मिलने का पता—
श्री शान्तिवीर दि. जैन संस्थान
श्री शान्तिवीरनगर
श्री महावीरजी (राज०)

कागज	५००)
मुद्रण-व्यय	६२०)
जिल्द	४३०)
योग	१५५०) रु०

मुद्रक—
गोपाल प्रिंटिंग प्रेस,
सदर मेरठ

ग्रंथकर्ता का परिचय

श्री देवसेन नाम के अनेक दिगम्बर जैन आचार्य हो गए हैं। यहाँ उन श्री देवसेन आचार्य का परिचय दिया जाता है, जिन्होंने सं० ६६० में दर्शनसार की रचना की है।

श्री देवसेन आचार्य ने अपनी गुरू परम्परा और गण-गच्छादि का कोई उल्लेख नहीं किया, किन्तु मात्र इतना ही सूचित किया है कि 'धारा नगरी में रहते हुए श्री पार्श्वनाथ मंदिर में सं० ६६० में माघ सुदी दशमी के दिन दर्शनसार की रचना की गई है।'

इन श्री देवसेन आचार्य की दर्शनसार के अतिरिक्त आलापपद्धति, नयचक्र, तत्त्वसार और आराधनासार आदि कृतियाँ मानी जाती हैं। पर अभी यह निर्णय नहीं हो सका है कि ये सब कृतियाँ प्रस्तुत श्री देवसेन के द्वारा ही रची गई हैं या इनमें से किसी ग्रन्थ के कर्ता अन्य कोई श्री देवसेन आचार्य हैं। यदि आलापपद्धति इन्हीं श्री देवसेन की रचना है तो इनका समय विक्रम की १० वीं शताब्दी सुनिश्चित है।

श्लोकवार्तिक पृ० २७६ पर एक नयचक्र का उल्लेख है परन्तु वह नयचक्र किस आचार्य का था, यह ज्ञात नहीं होता है। एक नयचक्र मार्च १९४९ में कल्याण पावर प्रिंटिंग प्रेस, शोलापुर से प्रकाशित हुआ है जिसकी रचना संस्कृत भाषा के गद्य-पद्य रूप में है। इसके कर्ता भी श्री देवसेन आचार्य है। परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि ये कौन से श्री देवसेन आचार्य थे।

कुछ भी हो; आलापपद्धति के कर्ता श्री देवसेन आचार्य नय विषयक शास्त्रों के पारगामी थे और उन्हीं के आधार पर आलापपद्धति की रचना हुई है।

प्रस्तावना

इस ग्रन्थ का नाम यद्यपि आलापपद्धति (बोलचाल की रीति) है तथापि इसका अपरनाम 'द्रव्यानुयोग प्रवेशिका' है। इसमें द्रव्य, गुण, पर्याय, स्वभाव, प्रमाण और नय आदि का कथन है। द्रव्यानुयोग की स्वाध्याय से पूर्व आलापपद्धति का ज्ञान होना अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि इसके विना द्रव्यानुयोग में प्रवेश तथा उसका यथार्थ बोध, नहीं हो सकता है।

मूल नय दो हैं—निश्चयनय और व्यवहारनय, जैसा कि इसी ग्रन्थ की गाथा ४ में कहा है—

'णिच्छयववहारणया मूलमभेया णयाण सव्वाणं।'

भेद प्रतिभेदों की अपेक्षा न रखकर द्रव्यानुयोग में प्रायः निश्चय व व्यवहार ऐसे दो नयों का उल्लेख पाया जाता है। उपचरित-असद्भूत व्यवहार नय की दृष्टि से एक जीव दूसरे जीव को मारता है, सुखी दुखी करता है किन्तु अनुपचरित-असद्भूत-व्यवहारनय की दृष्टि से अपने कर्म ही जीव को सुखी-दुखी करते हैं या मारते हैं। समयसार कलश १६८ में कहा भी है—

'सर्वं सदैव नियतं भवति स्वकीयकर्मोदयान्मरणजीवितदुःखसौख्यम्।'

अर्थात् इस जगत में जीवों के मरण, जीवन, दुःख, सुख, सब सदैव नियम से (निश्चय से) अपने कर्मोदय से होता है। यह कथन यद्यपि अनुपचरित-असद्भूत-व्यवहारनय की दृष्टि से है तथापि उपचरित-असद्भूत-व्यवहारनय की अपेक्षा से इसको निश्चय कहा गया है।

असद्भूत व्यवहारनय की अपेक्षा से सद्भूत व्यवहारनय को निश्चय कहा गया है—

ववहारस्स दु आदा पुग्गलकम्मं करेइ णेयविहं।
तं चेव पुणो वेयइ पुग्गलकम्मं अणेयविहं ॥८४॥
णिच्छयणयस्स एवं आदा अप्पाणमेव हि करेदि।
वेदयदि पुणो तं चेव जाण अत्ता दु अत्ताणं ॥८३॥ [समय०]

अर्थ—व्यवहारनय का यह मत है कि आत्मा अनेक प्रकार के पुद्गल-कर्मों को करता है और भोगता है। निश्चयनय का यह मत है कि आत्मा कर्मोदय व अनुदय से होने वाले, अपने भावों को ही करता है तथा भोगता है।

निश्चयनय का विषय अभेद है, अतः निश्चयनय की दृष्टि में कर्ता-कर्म का भेद संभव नहीं है। सद्भूत-व्यवहारनय का विषय भेद है। अतः कर्ता-कर्म का भेद सद्भूत-व्यवहारनय की दृष्टि से सम्भव है। आत्मा पुद्गल-कर्मों को करता व भोगता है—यह असद्भूत-व्यवहारनय का कथन है, क्योंकि पुद्गल-कर्म और आत्मा इन दो द्रव्यों का सम्बन्ध बतलाया गया है। अतः यहां पर असद्भूत-व्यवहारनय की अपेक्षा से सद्भूत-व्यवहारनय के कथन को निश्चय नय का कथन कहा गया है।

शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा अशुद्ध निश्चयनय को व्यवहार कहा गया है—

'द्रव्यकर्माण्यचेतनानि भावकर्माणि च चेतनानि तथापि शुद्ध-निश्चयापेक्षया अचेतनान्येव। यतः कारणादशुद्धनिश्चयोपि शुद्ध-निश्चयापेक्षया व्यवहार एव।' [समयसार गाथा ११५ टीका]

यद्यपि सामान्य से निश्चय व व्यवहार शब्दो का प्रयोग हुआ है तथापि निश्चय शब्द से कहां पर किस नय से प्रयोजन है और व्यवहार शब्द से किस नय से प्रयोजन है, इसका ज्ञान हुए बिना द्रव्यानुयोग का यथार्थ भाव नही भास सकता है। अतः द्रव्यानुयोग मे प्रवेश करने से पूर्व इस ग्रन्थ का अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है।

इस आर्ष ग्रन्थ के ज्ञान बिना आधुनिक साहित्य में गुण व पर्याय आदि के विषय में अनेक कथन आर्ष-विरुद्ध हैं। उनमें से कुछ का यहा पर दिग्दर्शन कराया जाता है—

लघु जैन सिद्धान्त प्रवेशिका पृष्ठ ४ पर लिखा है—'जिस शक्ति के कारण से द्रव्य की अवस्था निरन्तर बदलती रहती है उसको द्रव्यत्वगुण कहते हैं।' आलापपद्धति ग्रन्थ में श्री देवसेन आचार्य ने लिखा है—

'द्रव्यस्यभावो द्रव्यत्वम्, निजनिजप्रदेशसमूहैरखण्डवृत्त्या स्वभाव-

विभावपर्यायान् द्रवति द्रोष्यति अदुद्रुवदिति द्रव्यम् ॥६६॥'

अर्थ—जो अपने-अपने प्रदेश-समूह के द्वारा अखण्डपने से अपनी स्वभाव व विभाव पर्यायों को प्राप्त होता है, होवेगा, हो चुका है, वह द्रव्य है और उसका जो भाव वह द्रव्यत्वगुण है। अर्थात् वस्तु के सामान्यपने को द्रव्यत्व कहते हैं, क्योंकि वह सामान्य ही विशेषों (पर्यायों) को प्राप्त होता है।

वहीं पर अगुरुलघुगुण का लक्षण लिखा है—'जिस शक्ति के कारण से द्रव्य में द्रव्यपना कायम रहता है अर्थात् एक द्रव्य दूसरे द्रव्यरूप नहीं होता है, एक गुण दूसरे गुणरूप नहीं होता है और द्रव्य में रहने वाले अनन्तगुण बिखरकर अलग-अलग नहीं हो जाते हैं उस शक्ति को अगुरुलघुगुण कहते हैं।' आलापपद्धति में अगुरुलघुगुण का स्वरूप इस प्रकार कहा है—'अगुरुलघोर्भावोऽगुरुलघुत्वम् सूक्ष्मा अवाग्गोचराः प्रतिक्षणं वर्तमाना आगमप्रमाण्यादभ्युपगम्या अगुरुलघुगुणाः ॥६६॥' अर्थात्—अगुरुलघुभाव अगुरुलघुत्व है। जो सूक्ष्म है, वचन के अगोचर है, प्रति समय परिणमन-शील है और आगम प्रमाण से जाना जाता है, वह अगुरुलघुगुण है।

अर्थपर्याय व व्यंजनपर्याय का लक्षण इस प्रकार किया जाता है—

'प्रदेशत्व गुण के सिवाय बाकी सम्पूर्ण गुणों के विकार को अर्थपर्याय कहते हैं। द्रव्य के प्रदेशत्वगुण के विकार (विशेष कार्य) को व्यंजनपर्याय कहते हैं।' [लघु जैन सिद्धान्त प्रवेशिका]

किन्तु सिद्धान्त-चक्रवर्ती श्री वसुनन्दि आचार्य वसुनन्दिश्रावकाचार में लिखते हैं—

सुहुमा अवायविसया खणखइणो अत्थपज्जया दिट्ठा।
वंजणपज्जाया पुण थूला गिरगोयरा चिरविवत्था ॥२५॥

अर्थ—अर्थपर्याय सूक्ष्म है, ज्ञान का विषय है, शब्दों से नहीं कही जा सकती और क्षण-क्षण में नाश होती रहती है। किन्तु व्यंजन पर्याय स्थूल है, शब्दगोचर है और चिरस्थायी है।

इसी प्रकार अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रदेशत्व आदि गुणों के लक्षणों में भी आर्पग्रंथ-विरुद्ध कथन पाया जाता है।

यह ग्रन्थ प्रथम गुच्छक में बनारस से, श्री माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई से, मथुरा से व नातेपुते आदि से प्रकाशित हुआ है। प्रायः सभी प्रकाशित ग्रन्थों में किसी न किसी सूत्र का मूल पाठ बहुत अशुद्ध है। अतः इस ग्रन्थ के मूल-सूत्रों के पाठ अजमेर की प्रति सं० ४३९ व ४४०, बूंदी की प्रति, दिल्ली के पंचायती मन्दिर की प्रति सं० ३१/१०४, वैदवाड़ा मन्दिर की प्रति, सेठ के कूंचे के मन्दिर की प्रति तथा नया मन्दिर की प्रति सं० आ १४(क), आ १४(ख), आ १४(ग), आ १४(घ), आ १४(ङ) से मिलान करके शुद्ध किये गये हैं। इनमें से बूंदी की प्रति में विशेष टिप्पण हैं। अजमेर की प्रति में ४–५ सूत्रों पर टिप्पण हैं। इन टिप्पणों से मूल पाठ के शुद्ध करने में तथा अनुवाद करने में बहुत सहायता मिली है।

आचार्य श्री शिवसागर जी का संघ जब बूंदी पहुंचा तो उस संघ के मुनि श्री अजितसागर जी ने वहां के शास्त्र भण्डार को देखा। उनकी दृष्टि में टिप्पण सहित आलापपद्धति की एक प्रति आई। इस प्रति की प्राप्ति में मुनि श्री अजितसागर जी विशेष निमित्त हैं, अतः मैं उनका विशेष रूप से आभारी हूँ।

ला० पन्नालाल जी अग्रवाल

श्री सेठ भागचन्द जी सोनी के सहयोग से अजमेर से दो प्रतियां तथा ~~गुरुजी श्री सुमेरुचन्द्र जी~~ के सहयोग से दिल्ली से आठ प्रतियां प्राप्त हुई हैं। इन प्रतियों से मिलान में ला० अर्हद्दास जी तथा बा० ऋषभदास जी का पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ है। इस ग्रन्थ के अर्थ करने में श्री पं० बालचन्द जी, वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली; श्री पं० पन्नालाल जी साहित्याचार्य, सागर तथा श्री पं० जीवंधर जी, इन्दौर का पूर्ण सहयोग रहा है। ग्रन्थकर्ता का परिचय श्री पं० परमानन्द जी, वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली से प्राप्त हुआ है।

श्री श्रीपाल जी, ला० इन्द्रसैन जी, सेठ बद्रीप्रसाद जी तथा भाई नेमचन्द आदि ने द्रव्य देकर प्रकाशन में सहयोग दिया है।

उपरोक्त सभी महानुभावों की सहायता व सहयोग के प्रति मैं हार्दिक आभार व्यक्त करता हूँ।

इस ग्रन्थ के अनुवाद व टीका का कार्य यद्यपि सन् १९६७ ई० में पूर्ण हो चुका था किन्तु प्रेस की व्यवस्था न हो पाने के कारण इसका प्रकाशन न हो सका। गत वर्ष सन् १९६९ ई० में भाद्रपद मास के दशलक्षण पर्व में मेरठ सदर रहना हुआ। तब श्री रतनलाल जैन एम. कॉम. (सुपुत्र ला० महावीरप्रसाद जैन मोटर वाले) ने मुद्रण का भार ले लिया। उनके तथा प्रेस के सम्बद्ध कर्मचारियों के सहयोग के फलस्वरूप इसका मुद्रण हो गया। मैं उक्त श्री रतनलाल आदि का भी बहुत आभारी हूँ।

मैं मन्द बुद्धि हूँ, यदि कहीं पर अनुवाद आदि में कोई अशुद्धि रह गई हो तो विद्वान् उसको शुद्ध करने की और मुझको क्षमा करने की कृपा करें।

सहारनपुर
वीर निर्वाण दिवस संवत् २४९७

—रतनचन्द जैन, मुख्तार



विषय-सूची

स्वभाव-अधिकार ७-९ ७२-८१

प्रमाण-अधिकार १० ८१-९२

नय योजना २५-२७ १६८-१७६

सिद्धमणंतमणिंदिय-

मणुवममप्पुत्थ-सोक्खमणवज्जं ।

केवल-पहोह-णिज्जिय-

दुण्णय-तिमिरं जिणं णमह ।।

[आचार्य श्री वीरसेन]



दुर्निवारनयानीक-

विरोधध्वंसनौषधिः ।

स्यात्कारजीविता जीयाज्-

जैनी सिद्धान्तपद्धतिः ।।

[श्रीमदमृतचन्द्रसूरि]

णमो अरहंताणं ।

णमो सिद्धाणं ।

णमो आइरियाणं ।

णमो उवज्झायाणं ।

णमो लोए सव्व-साहूणं ॥

श्रीमद्देवसेनाचार्यविरचिता

आलापपद्धतिः

गुणानां विस्तरं वक्ष्ये स्वभावानां तथैव च।
पर्यायाणां विशेषेण नत्वा वीरं जिनेश्वरम् ॥१॥

टिप्पण—गुणानां=द्रव्यगुणानां। वीरं=विशेषेण 'ई' मोक्ष-लक्ष्मीं राति ददातीति यः सः वीरस्तं भूतभाविवर्तमानतीर्थंकरसमूहं, पक्षे वर्द्धमानम्।

आलापपद्धतिर्वचनरचनाऽनुक्रमेण नयचक्रस्योपरि उच्यते ॥१॥

टिप्पण—आलापपद्धतिः=वचनपद्धतिः। वचनरचना=व्याख्या। नयचक्रस्य=सम्यग्ज्ञानं प्रमाणं तदवयवा नयाः, नयानां चक्रं समूहस्तस्य। प्राकृतमयं नयशास्त्रं विलोक्य।

सा च किमर्थम्? ॥२॥

टिप्पण—सा=आलापपद्धतिः।

द्रव्यलक्षणसिद्ध्यर्थम् स्वभावसिद्ध्यर्थञ्च ॥३॥

टिप्पण—लक्षणं=गुणः। स्वभावसिद्ध्यर्थं=आत्मस्वभाव-सिद्ध्यर्थम्।

द्रव्याणि कानि? ॥४॥

जीवपुद्गलधर्माधर्माकाशकालद्रव्याणि ॥५॥

सद्द्रव्यलक्षणम् ॥६॥

उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् ॥७॥

॥ इति द्रव्याधिकारः ॥

लक्षणानि कानि ? ॥८॥

अस्तित्वं, वस्तुत्वं, द्रव्यत्वं, प्रमेयत्वं, अगुरुलघुत्वं, प्रदेशत्वम्, चेतनत्वमचेतनत्वं, मूर्तत्वं, अमूर्तत्वं, द्रव्याणां दश सामान्यगुणाः ॥९॥

टिप्पण—अस्तित्वं=अस्ति इत्येतस्यभावोऽस्तित्वं सद्रूपत्वं, स्वचतुष्टयापेक्षया निश्चयेन, प्रदेशभेदो न यत्र स निश्चयः, स्वर्णे पीतत्वं यथा; तद्विपरीतो व्यवहारः यथा रंजितवस्त्रम् । वस्तुनोभावः वस्तुत्वं, सामान्यविशेषात्मकं वस्तु । द्रव्यस्यभावो द्रव्यत्वं, निजनिजप्रदेशसमूहैरखण्डवृत्या स्वभावविभावपर्यायान् द्रवति, द्रोष्यति, अदुद्रवदिति द्रव्यम्; सत् द्रव्यलक्षणम्, सीदति स्वकीयान् गुणपर्यायान् व्याप्नोतीति सत् । प्रमेयस्यभावः प्रमेयत्वं, प्रमाणेन स्वपररूपं परिच्छेद्यं प्रमेयम् । अगुरुलघोर्भावोऽगुरुलघुत्वम्; सूक्ष्मा अवाग्गोचराः प्रतिक्षणं वर्तमाना आगमप्रमाणादभ्युपगम्या अगुरुलघुगुणाः । प्रदेशस्यभावः प्रदेशत्वं क्षेत्रत्वं अविभागिपुद्गलपरमाणुनावष्टब्धम् । चेतनस्यभावः चेतनत्वं, चैतन्यं अनुभवनम् । अचेतनस्यभावोऽचेतनत्वं, अचैतन्यम् अननुभवनम् । मूर्तस्यभावो मूर्तत्वं रूपादिमत्वम् । अमूर्तस्य भावो अमूर्तत्वं रूपादिरहितत्वम् । यत् सर्वत्र प्राप्यते तत् सामान्यम् । इत्युक्ते चर्चां करोति कश्चित् चेतनत्वं मूर्तत्वं एतद्गुणद्वयं जीवपुद्गलाभ्यामन्यत्र न, तत्र सामान्यं कथं ? तत्रोत्तरं—भो ! यदा एक एव जीवः एक एव पुद्गलस्तदा भवत्प्रश्नस्तादृग् विध एव, परन्तु जीवस्यानन्तता पुद्गलाणवोऽप्यपरिमितास्ततो दूषणं न ।

प्रत्येकमष्टौ सर्वेषाम् ॥१०॥

टिप्पण– सर्वेषां=सर्वेषां द्रव्याणां। एकैकद्रव्ये अष्टौ अष्टौ गुणा भवन्ति। जीवद्रव्ये अचेतनत्वं मूर्तत्वं च नास्ति। पुद्गलद्रव्ये चेतनत्वममूर्तत्वं च नास्ति। एवं द्विर्द्विगुणवर्जिता अष्टौ अष्टौ गुणाः प्रत्येकद्रव्ये भवन्ति।

ज्ञानदर्शनसुखवीर्याणि[1], स्पर्शरसगन्धवर्णाः[2], गतिहेतुत्वं, स्थितिहेतुत्वं, अवगाहनहेतुत्वं, वर्तनाहेतुत्वं, चेतनत्वं, अचेतनत्वं, मूर्तत्वं, अमूर्तत्वं, द्रव्याणां षोडश विशेषगुणाः ॥११॥

टिप्पण—विशेषगुणो ज्ञानं सामान्यगुणा दर्शनं आत्मसम्बन्धिनः। स्पर्शरसगन्धवर्णाः पुद्गलसम्बन्धिनः। जीवं विना पंचद्रव्याणां अचेतनत्वम। पुद्गलद्रव्यस्य मूर्तत्वम्। पुद्गलं विना पंचद्रव्याणां अमूर्तत्वम्।

प्रत्येकं जीवपुद्गलयोः षट् ॥१२॥[3]

टिप्पण—ज्ञानदर्शनसुखवीर्यचेतनत्वामूर्तत्वानि षट् जीवस्य। स्पर्शरसगन्धवर्णाचेतनत्वमूर्तत्वानि षट् पुद्गलस्य।

इतरेषां प्रत्येकं त्रयो गुणाः ॥१३॥[4]

---

१. 'वीर्य्य' इति पाठान्तरम्। २. 'वर्ण' इति पाठान्तरम्। ३. 'षोडशविशेषगुणेषु जीवपुद्गलयोः षडिति। जीवस्य ज्ञानदर्शनसुखवीर्याणि चेतनत्वममूर्तत्वमिति षट्। पुद्गलस्य स्पर्शरसगंधवर्णमूर्तत्वमचेतनत्वमिति षट्।' ऐसा ज्ञात होता है कि मुद्रित पुस्तकों में जो यह पाठ है वह टिप्पण का पाठ मूलपाठ में ले लिया गया है। ४. 'इतरेषां धर्माधर्माकाशकालानां प्रत्येकं त्रयो गुणाः। धर्मद्रव्ये गतिहेतुत्वममूर्तत्वमचेतनत्वमेते त्रयो गुणाः। अधर्मद्रव्ये स्थितिहेतुत्वममूर्तत्वमचेतनत्वमिति। आकाशद्रव्ये अवगाहनहेतुत्वममूर्तत्वमचेतनत्वमिति। कालद्रव्ये वर्तनाहेतुत्वममूर्तत्वमचेतनत्वमिति विशेषगुणाः।' मुद्रित पुस्तकों में यह पाठ है। ऐसा ज्ञात होता है कि टिप्पण का पाठ मूलपाठ में ले लिया गया।

टिप्पण—इतरेषां=धर्मादीनां धर्माधर्माकाशकालानाम्। धर्मस्य गतिहेतुत्वाचेतनत्वामूर्तत्वानि त्रीणि। अधर्मस्य स्थितिहेतुत्वाचेतनत्वामूर्तत्वानि त्रीणि। आकाशस्य अवगाहनहेतुत्वाचेतनत्वामूर्तत्वानि त्रीणि। कालस्य वर्तनाहेतुत्वाचेतनत्वामूर्तत्वानि त्रीणि।

अन्तस्थाश्चत्वारो गुणाः स्वजात्यपेक्षया सामान्यगुणा विजात्यपेक्षया त एव विशेषगुणाः ॥१४॥

टिप्पण—अन्तस्थाः चत्वारो गुणाः=चेतनत्वं अचेतनत्वं मूर्तत्वं अमूर्तत्वं चेति। चेतनत्वादयश्चत्वारः सामान्यगुणाः विशेषाः कथं संभवन्ति ? तत्रोत्तरं—स्वजात्या समानाः विजात्या त एव विशेषाः, अत्र न दोषः। तत्र पुनरपि पृच्छति कश्चित्, भो ! मम स्वजाति-विजात्योरेव ज्ञानं, कथं तदर्थज्ञानं ? तत्रोत्तरं—भो ! सा स्वजातिः एकं लक्षणं त्रिकाले तदेव, या अनन्तजीवद्रव्यस्य (नां) सत्ता परस्परं चैतन्यलक्षणेन स्वजातिस्तथैव रूपरसगन्धस्पर्शैः परमाणवोपि। जीव-द्रव्यस्यापेक्षयान्यद्रव्यं विजातीयम्। तत्र पुनरप्याशङ्कां करोति कश्चित्, भो ! जीवस्य ज्ञानदर्शनद्वयमप्युक्तं तथा चेतनत्वं च, अत्र को विशेषः ? तत्रोच्यते चेतनत्वं सामान्यलक्षणं, तत् ज्ञानदर्शनात्मकम्। चेतना सर्वत्र प्राप्यते यस्मात् ज्ञानचेतना दर्शनचेतना सहितः संसारीजीवः तथा सिद्धोपि वर्तते, ततः चेतनस्वभावस्य कुत्रापि नाशो न, तस्मात् चेतनत्वं सामान्यम्। एवं ज्ञानदर्शनसुखवीर्याः (णि) सम्यक् स्वभावे एव तस्मादेतानि लक्षणानि पृथक् पृथक् उक्तानि, पुनरुक्तदोषो नात्र। स्वजात्यपेक्षया=द्रव्यक्षेत्रकालभावापेक्षया।

॥ [illegible]त गुणाधिकारः ॥

—•—

गुणविकाराः पर्यायास्ते द्वेधा अर्थव्यंजनपर्यायभेदात् ॥१५॥[1]
अर्थपर्यायास्ते द्वेधा स्वभावविभावपर्यायभेदात् ॥१६॥[1]

१. सूत्र १५ व १६ दिल्ली की प्रति ३१/१०४ के अनुसार है।

टिप्पण—स्वभावपर्याया: सर्वद्रव्येषु भवन्ति, विभावपर्याया जीवपुद्गलयोश्च भवन्ति।

अगुरुलघुविकाराः स्वभावार्थपर्यायास्ते द्वादशधा षड्वृद्धिरूपाः षड्ढानिरूपाः; अनन्तभागवृद्धिः, असंख्यातभागवृद्धिः, संख्यातभागवृद्धिः, संख्यातगुणवृद्धिः, असंख्यातगुणवृद्धिः, अनन्तगुणवृद्धिः, इति षड्वृद्धिः; तथा अनन्तभागहानिः, असंख्यातभागहानिः, संख्यातभागहानिः, संख्यातगुणहानिः, असंख्यातगुणहानिः अनन्तगुणहानिः, इति षड्हानिः। एवं षट्वृद्धिषड्ढानिरूपा ज्ञेयाः ॥१७॥[1]

विभावार्थपर्यायाः षड्विधाः मिथ्यात्व-कषाय-राग-द्वेष-पुण्य-पापरूपाऽध्यवसायाः ॥१८॥[2]

॥ इत्यर्थपर्यायाः ॥

[व्यंजनपर्यायास्तेद्वेधा स्वभावविभावपर्यायभेदात्]

विभावद्रव्यव्यञ्जनपर्यायाश्चतुर्विधा नरनारकादिपर्यायाः अथवा चतुरशीतिलक्षा योनयः ॥१९॥

टिप्पण—विभावद्रव्यव्यंजनपर्यायाः = जीवपुद्गलयोर्विभावपर्याया भवन्ति। द्रव्यस्यव्यंजनपर्यायाः द्रव्यव्यंजनपर्यायाः, विभावाश्च ते व्यंजनपर्यायाः। अथवा विभाव विभावस्वभावपरिणतं यच्च तद्द्रव्यं च तस्य व्यंजनपर्यायाः। स्वभावादन्यथाभवनं विभावः। यच्च तद्द्रव्यं च तस्य व्यंजनानि लक्षणानि चिह्नानि वा, तेषां पर्यायाः परिणमनानि विभावद्रव्यव्यंजनपर्यायाः।

---

१. सूत्र नं० १७ दिल्ली की प्रति ३१।१०४ के अनुसार है। २. सूत्र नं० १८ बूंदी की प्रति के अनुसार है।

विभावगुणव्यञ्जनपर्याया मत्यादयः ॥२०॥

टिप्पण—"स्थूलोव्यंजनपर्यायो वाग्गम्यो नश्वरः स्थिरः। सूक्ष्मः प्रतिक्षणध्वंसीपर्यायश्चार्थगोचरः।"

मत्यादयः=मति श्रुत अवधि कुमति कुश्रुत कुअवधि मनःपर्यय ज्ञानानि, चक्षुरचक्षुरवधिदर्शनानि।

स्वभावद्रव्यव्यंजनपर्यायाश्चरम-
शरीरात्[1] किञ्चिन्न्यूनसिद्धपर्यायाः ॥२१॥

टिप्पण – त्रैलोकप्रज्ञप्तौ उक्तं—

"दीहत्तं वाहल्लं चरिमभवे जस्स जारिसं ठाणं। तत्तोतिभागहीणं ओगाहण सव्वसिद्धाणं।"

तनारायामविस्तारौ प्राणिनां पूव जन्मनि तत् त्रिभागोनसंस्थानं जाते सिद्धत्व पर्याये। गतसिक्थमूषाया आकारेणोपलक्षिताः अमूर्तिनः विराजन्ते केवलज्ञानमूर्तयः।

स्वभावगुणव्यंजनपर्याया अनन्तचतुष्टयरूपा जीवस्य ॥२२॥

पुद्गलस्य तु द्व्यणुकादयो वभावद्रव्यव्यंजनपर्यायाः ॥२३॥

रसरसान्तर गन्धगन्धान्तरादि विभावगुणव्यंजनपर्यायाः ॥२४॥

अविभागिपुद्गलपरमाणुः स्वभावद्रव्यव्यंजनपर्यायः ॥२५॥

वर्णगंधरसैकैकाविरुद्धस्पर्शद्वयं स्वभावगुणव्यंजनपर्यायाः ॥२६॥

टिप्पण—उक्तं च आचारसारेः—

अणुश्च पुद्गलोऽभेद्यावयवः प्रचयशक्तितः।
कायश्च स्कन्धभेदोत्थश्चतुरस्रस्त्वतीन्द्रियः ॥ १३ ॥
बिभ्रदेकं रसं गन्धं वर्णं शीतचतुष्टये।
स्पर्शे चाबाधकौ स्पर्शावेकदा सर्वदेहशः ॥ १४ ॥

[अध्याय ३]

---

१. 'चरमशरीराकारात्' ऐसा पाठ बूंदी प्रति में है।

अभेद्यः=भेत्तुमशक्यः। प्रचयशक्तितः=स्कन्धरूपेण परिणमनशक्तेः। स्कन्धभेदोत्थः=पृथक्भावजनितः। चतुरस्र.=चतुष्कोणः। शीतचतुष्टये स्पर्शे=शीतोष्णस्निग्धरूक्षचतुःप्रकारे। अबाधकौ=परस्पराविरोधकौ शीतस्निग्धौ शीतरूक्षौ उष्णस्निग्धौ उष्णरूक्षौ। एकदा=एकसमये। शीतोष्णयोरेकं स्निग्धरूक्षयोरेकं। उक्तं च महापुराणे :—

अणवः कार्यलिङ्गाः स्युः द्विस्पर्शाः परिमण्डलाः।
एकवर्णरसा नित्याः स्युरनित्याश्च पर्ययैः॥ २४/१४८॥

अनाद्यनिधने द्रव्ये स्वपर्यायाः प्रतिक्षणम्।
उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति जलकल्लोलवज्जले ॥१॥
धर्माधर्मनभः काला अर्थपर्यायगोचराः।
व्यंजनेन तु सम्बद्धौ द्वावन्यौ जीवपुद्गलौ ॥२॥

टिप्पणी—अनाद्यनिधने=आद्यन्तरहिते। उन्मज्जंति=प्रादुर्भवन्ति। निमज्जन्ति=विनश्यन्ति।

॥ इति पर्यायाधिकारः ॥

गुणपर्ययवद्द्रव्यम् ॥२७॥

स्वभावाः कथ्यन्ते—अस्तिस्वभावः, नास्तिस्वभावः, नित्यस्वभावः, अनित्यस्वभावः, एकस्वभावः, अनेकस्वभावः, भेदस्वभावः, अभेदस्वभावः, भव्यस्वभावः, अभव्यस्वभावः, परमस्वभावः, एते द्रव्याणामेकादश सामान्यस्वभावाः; चेतनस्वभावः, अचेतनस्वभावः, मूर्तस्वभावः, अमूर्तस्वभावः; एकप्रदेशस्वभावः, अनेकप्रदेशस्वभावः, विभावस्वभावः, शुद्धस्वभावः, अशुद्धस्वभावः, उपचरितस्वभावः, एते द्रव्याणां दशविशेषस्वभावाः ॥२८॥

टिप्पण—स्वभावाः=द्रव्याणां स्वरूपाणि। तत्कालपर्यायाक्रान्तं वस्तु भावो विधीयते। भो गुणाधिकारस्तु प्रोक्त एव पुनः स्वभावाधिकारः पृथक् निरूपयते तत्र को भेदः ? तत्रोत्तरं, यो गुणः स गुणिन्येव प्राप्यते। कुतः ? गुणगुणिनोरभेदश्च। स्वभावो गुणेऽपि गुणिन्यपि प्राप्यते। कुतः ? गुणोगुणी स्वस्वपरिणति परिणमति। या परिणतिः सैव स्वभावः, अयं विशेषः। तस्मात् स्वभावस्वरूपं पृथक् लिख्यते॥ अस्तिस्वभावः = स्वभावलाभादच्युतत्वादग्निदाहवदस्तिस्वभावः। नास्तिस्वभावः=परस्वरूपेणाभावान्नास्तिस्वभावः। नित्यस्वभावः= निजनिजनानापर्यायेषु तदेवेदमिति द्रव्यस्योपलम्भान्नित्यस्वभावः। अनित्यस्वभावः=तस्यापि अनेकपर्यायपरिणामित्वादनित्यस्वभावः। एकस्वभावः=स्वभावानामेकाधारत्वादेकस्वभावः। अनेकस्वभावः= एकस्यापि अनेकस्वभावोपलम्भात् अनेकस्वभावः। भेदस्वभावः= गुणगुण्यादि संज्ञाभेदाद्भेदस्वभावः। अभेदस्वभावः=गुणगुण्याद्येकस्वभावात् अभेदस्वभावः। भव्यस्वभावः=भाविकाले स्वरूपाकारभवनात् भव्यस्वभावः। अभव्यस्वभावः=कालत्रयेपि परस्वरूपाकाराभवनात् अभव्यस्वभावः। ['भवितुं परिणमितुं योग्यत्वं तु भव्यत्वं तेन विशिष्टत्वाद्भव्याः। तद्विपरीतेनाभव्याः'—नयचक्र गाथा ६३ टिप्पण। 'द्रव्यस्य सर्वदा अभूतपर्यायैः भाव्यमिति भव्यः, द्रव्यस्य सर्वदा भूतपर्यायैरभाव्यमिति अभव्यः'—पंचास्तिकाय गाथा ३७ टीका। 'भव्यस्यैकांतेन परपरिणत्या संकरादि दोष सम्भवः, अभव्यस्यापि तथा शून्यताप्रसंगः स्वरूपेणाप्यभवनात्'—नयचक्र पृ० ४०।] परमस्वभावः=पारिणामिकभावप्रधानत्वेन परमस्वभावः। चेतनस्वभावः=असद्भूतव्यवहारेण कर्मनोकर्मणोरपि चेतनस्वभावः। अचेतनस्वभावः=जीवस्यापि असद्भूतव्यवहारेण अचेतनस्वभावः। मूर्तस्वभावः=जीवस्यापि असद्भूतव्यवहारेण मूर्तस्वभावः। अमूर्तस्वभावः=स्पर्शरसगंधवर्ण रहितः अमूर्तस्वभावः, एकप्रदेशस्वभावः= अखंडापेक्षया एकप्रदेशस्वभावः, अनेकप्रदेशस्वभावः=भेदापेक्षया अनेकप्रदेशस्वभावः, विभावस्वभावः=स्वभावादन्यथा भवनं विभाव-

स्वभावः। शुद्धस्वभावः=शुद्धं केवलभावं। अशुद्धस्वभावः=तस्मात् (शुद्धात्) विपरीतमशुद्धं। उपचरितस्वभावः=स्वभावस्यान्यत्रोपचारादुपचरितस्वभावः, यथा सिंहोमाणवकः, स द्वेधा कर्म्मजस्वाभाविक भेदात्, यथा जीवस्य मूर्तत्वमचेतनत्वं, यथा सिद्धानां परज्ञता परदर्शकत्वं च।

[1]जीवपुद्गलयोरेकविंशतिः ॥२९॥

चेतनस्वभावः मूर्तस्वभावः विभावस्वभावः अशुद्धस्वभावः उपचरितस्वभावः[2] एतैर्विना धर्मादि [धर्माधर्माकाशानां] त्रयाणां षोडश स्वभावः सन्ति ॥३०॥

टिप्पण—ते के? अस्तिस्वभावः नास्तिस्वभावः नित्यस्वभावः अनित्यस्वभावः एकस्वभावः अनेकस्वभावः भेदस्वभावः अभेदस्वभावः परमस्वभावः एकप्रदेशस्वभावः अनेकप्रदेशस्वभावः अमूर्तस्वभावः अचेतनस्वभावः शुद्धस्वभावः भव्यस्वभावः अभव्यस्वभावः।

तत्र वहुप्रदेशं (शत्वं) विना कालस्य पञ्चदश स्वभावाः ॥३१॥[3]

टिप्पण—तत्र=षोडशस्वभावमध्ये। वहुप्रदेशं विना=अनेकप्रदेशस्वभावं विना।

एकविंशतिभावाः स्युर्जीवपुद्गलयोर्मताः।
धर्मादीनां षोडश स्युः काले पञ्चदश स्मृताः ॥३॥

टिप्पण—मताः=इष्टाः।

॥ इति स्वभावाधिकारः ॥

---

१. 'इति जीवः' यह पाठ दिल्ली की प्रति नं० ३१।१०४ में है।

२. यह पाठ दिल्ली की प्रति नं० ३१।१०४ के अनुसार है। अन्य प्रतियों में 'एकप्रदेश स्वभावः' पाठ है जो अशुद्ध प्रतीत होता है, क्योंकि आगे भेदकल्पना निरपेक्ष से एकप्रदेशस्वभाव कहा गया है।

३. इसके पश्चात् कुछ प्रतियों में 'एकप्रदेशस्वभावः' इतना अधिक पाठ है।

ते कुतो ज्ञेयाः ? ॥३२॥

टिप्पण—ते=भावाः ।

प्रमाणनयविवक्षातः ॥३३॥

सम्यग्ज्ञानं प्रमाणम् ॥३४॥[1]

तद्द्वेधा प्रत्यक्षेतरभेदात् ॥३५॥

टिप्पण—प्रत्यक्षं प्रमाणं केवलीसिद्धोजिनश्च । इतरः=परोक्ष-प्रमाणम्, अनुमान-उपमान-शब्दप्रमाणानि परोक्षप्रमाणम् । यदि-न्द्रियज्ञानं तदेव परोक्षप्रमाणं ।

अवधिमनःपर्ययावेकदेशप्रत्यक्षौ ॥३६॥

केवलं सकलप्रत्यक्षं ॥३७॥

मतिश्रुते परोक्षे ॥३८॥

॥ प्रमाणमुक्तं ॥

तदवयवा नयाः ॥३९॥

टिप्पण—तदवयवाः=प्रमाणस्य अंशाः । प्रमाणांशास्तावंतो यावन्तो नयाः ।

नयभेदा उच्यन्ते ॥४०॥

णिच्छयववहारणया मूलमभेया णयाण सव्वाणं ।
णिच्छयसाहणहेऊ[2] दव्वयपज्जत्थिया[3] मुणह ॥४॥

छाया—निश्चयव्यवहारनयौ मूलभेदौ नयानां सर्वेषाम् ।
निश्चयसाधनहेतू द्रव्यपर्यायार्थिकौ मन्यध्वम् ॥४॥

टिप्पण—निश्चयनयाः=द्रव्यस्थिताः । व्यवहारनयाः=पर्याय-स्थितः ।

---

१. 'तत्र प्रमाणं सम्यग्ज्ञानं' यह पाठ दिल्ली प्रति ३१।१०४ में है ।

२. 'णिच्छयसाहणहेओ' इति पाठान्तरं । ३. 'पज्जयदव्वत्थियं' इति पाठान्तरं ।

द्रव्यार्थिकः, पर्यायार्थिकः, नैगमः, संग्रहः, व्यवहारः, ऋजुसूत्रः, शब्दः, समभिरूढः, एवंभूत इति नवनयाः स्मृताः ॥४१॥

टिप्पण—द्रव्यमेवर्थः प्रयोजनमस्येति द्रव्यार्थिकः। पर्याय एवार्थः प्रयोजनमस्येति पर्यायार्थिकः। नैकं गच्छतीति निगमः, निगमोविकल्पस्तत्रभवो नैगमः। अभेदरूपतया वस्तुजातं संगृह्णातीति सङ्ग्रहः। सङ्ग्रहेण गृहितार्थस्य भेदरूपतया वस्तु व्यवह्रियत इति व्यवहारः। ऋजु प्रांजलं सूत्रयतीति ऋजुसूत्रः। शब्दात् व्याकरणात् प्रकृतिप्रत्ययद्वारेण सिद्धशब्दः शब्दनयः। परस्परेणाभिरूढः समभिरूढः, शब्दभेदेऽपि अर्थभेदोनास्ति, यथा शक्रः इन्द्रः पुरन्दर इत्यादयः समभिरूढाः। एवं क्रियाप्रधानत्वेन भूयत इत्येवंभूतः।

उपनयाश्च कथ्यन्ते ॥४२॥

नयानां समीपा उपनयाः ॥४३॥

टिप्पण—नयाङ्गं गृहीत्वा वस्तुनोऽनेकविकल्पत्वेन कथनमुपनयः।

सद्भूतव्यवहारः असद्भूतव्यवहारः उपचरितासद्भूतव्यवहारश्चेत्युपनयास्त्रेधा ॥४४॥

इदानीमेतेषां भेदा उच्यन्ते ॥४५॥

टिप्पण - एतेषां=नयानां उपनयानां च।

द्रव्यार्थिकस्य दश भेदाः ॥४६॥

१. कर्मोपाधिनिरपेक्षः शुद्धद्रव्यार्थिकः, यथा संसारीजीवः सिद्धसदृक्शुद्धात्मा ॥४७॥

२. उत्पादव्ययगौणत्वेन सत्ताग्राहकः शुद्धद्रव्यार्थिको यथा द्रव्यं नित्यम् ॥४८॥

टिप्पण—गौणत्वेन=अप्रधानत्वेन। सत्ता=ध्रौव्यः॥

३. भेदकल्पनानिरपेक्षः शुद्धो द्रव्यार्थिको यथा निजगुणपर्यायस्वभावाद् द्रव्यमभिन्नम् ॥४९॥

टिप्पण—निजगुणाश्च निजपर्यायाश्च निजस्वभावाश्च तेषां समाहारस्तस्मात् ।

४. कर्मोपाधिसापेक्षोऽशुद्धद्रव्यार्थिको यथा क्रोधादिकर्मजभाव आत्मा ॥५०॥

टिप्पण—क्रोधादिकर्मजनितः स्वभावः ।

५. उत्पादव्ययसापेक्षोऽशुद्धद्रव्यार्थिको यथैकस्मिन् समये द्रव्यमुत्पादव्ययध्रौव्यात्मकम् ॥५१॥

६. भेदकल्पनासापेक्षोऽशुद्धद्रव्यार्थिको यथात्मनो दर्शनज्ञानादयो गुणाः ॥५२॥

७. अन्वयसापेक्षो द्रव्यार्थिको यथा गुणपर्यायस्वभावं द्रव्यम् ॥५३॥

८. स्वद्रव्यादिग्राहकद्रव्यार्थिको यथा स्वद्रव्यादिचतुष्टयापेक्षया द्रव्यमस्ति ॥५४॥

टिप्पण—आदिशब्देन स्वक्षेत्रस्वकालस्वभावा ग्राह्याः ।

९. परद्रव्यादिग्राहकद्रव्यार्थिको यथा परद्रव्यादिचतुष्टयापेक्षया द्रव्यं नास्ति ॥५५॥

टिप्पण—सुवर्णं हि रजतादिरूपतया नास्ति रजतक्षेत्रेण रजतकालेन रजतपर्यायेण च नास्ति ।

१०. परमभावग्राहकद्रव्यार्थिको यथा ज्ञानस्वरूप आत्मा, अत्रानेक स्वभावानां मध्ये ज्ञानाख्यः परमस्वभावो गृहीतः ॥५६॥

॥ इति द्रव्यार्थिकस्य दश भेदाः ॥

अथ पर्यायार्थिकस्य षड् भेदाः ॥५७॥

१. अनादिनित्यपर्यायार्थिको यथा पुद्गलपर्यायो नित्यो मेर्वादिः ॥५८॥

टिप्पण—अनादिनित्यपर्यायार्थिको मेरु पुरस्सरः नित्यः पुद्गलपर्यायो यथाऽभाणि स्वयंभुवा ।

२. सादिनित्यपर्यायार्थिको[1] यथा सिद्धपर्यायो[2] नित्यः ॥५९॥

३. सत्तागौणत्वेनोत्पादव्ययग्राहकस्वभावोऽनित्यशुद्धपर्यायार्थिको यथा समयं समयं प्रति पर्याया विनाशिनः ॥६०॥

टिप्पण—गौणत्वेन=अप्रधानत्वेन ।

४. सत्तासापेक्षस्वभावोऽनित्याशुद्धपर्यायार्थिको यथा एकस्मिन् समये त्रयात्मकः पर्यायः ॥६१॥

टिप्पण—त्रयात्मकः=पूर्वपर्यायस्य विनाशः उत्तर पर्यायस्योत्पादः द्रव्यत्वेन ध्रुवत्वम् ।

५. कर्मोपाधिनिरपेक्षस्वभावोऽनित्यशुद्धपर्यायार्थिको यथा सिद्धपर्यायसदृशाः शुद्धाः संसारिणां पर्यायाः[3] ॥६२॥

६. कर्मोपाधि सापेक्षस्वभावोऽनित्याशुद्धपर्यायार्थिको यथा संसारिणामुत्पत्तिमरणे स्तः ॥६३॥

॥ इति पर्यायार्थिकस्य षड् भेदाः ॥

नैगमस्त्रेधा भूतभाविवर्तमानकालभेदात् ॥६४॥

अतीते वर्तमानारोपणं यत्र, स भूतनैगमो यथा अद्य

---

१. 'जीव एव क्षायिकभावेन साद्यनिधनाः ।'— पंचास्तिकाय गाथा ५३ टीका । २ 'सिद्धजीवपर्यायो' इति पाठान्तरं । ३. अर्हन्पर्यायः ।

दीपोत्सवदिने श्री वर्द्धमानस्वामी मोक्षं गतः ।।६५।।

टिप्पण—अतीते=अतीतकाले । आरोपणं=संस्थापनं ।

भाविनि भूतवत्कथनं यत्र स भाविनैगमो यथा अर्हन् सिद्ध एव ।।६६।।

टिप्पण—भाविनि भविष्यति पदार्थे । भूतवत्=भूतेन तुल्यं । अर्हन्=इन्द्रादिकृतामनन्यसंभाविनीं गर्भावतरण जन्माभिषेक निष्क्रमण केवलज्ञानोत्पत्ति निर्वाणाभिधानपंचमहाकल्याणरूपां अर्हणां पूजां अर्हतियोग्यो भवतीति अर्हन् । सिद्धः=सिद्धिः स्वात्मोपलब्धिः संजाता अस्येति सिद्धः, किंचिदूनचरमशरीराकारेणगत सिक्थक मूषा-गर्भाकारवत् छायाप्रतिमावत् पुरुषाकारः सिद्धः । अंजनसिद्ध पादुका-सिद्ध गुटिकासिद्ध खड्गसिद्ध मायासिद्धादि लोकिक विलक्षणः केवलज्ञानाद्यनंतगुणव्यक्तिलक्षणः सिद्धः । यः अर्हन स सिद्धएवेति भविष्यति पदार्थे भूतवत्कथनं भाविनैगमः ।

कर्तुमारब्धमीषन्निष्पन्नमनिष्पन्नं वा वस्तु निष्पन्नवत् कथ्यते यत्र स वर्तमाननैगमो यथा ओदनः पच्यते ।।६७।।

।। इति नैगमस्त्रेधा ।।[१]

संग्रहो द्वेधाः ।।६८।।

सामान्यसङ्ग्रहो यथा सर्वाणि द्रव्याणि परस्परम-विरोधीनि ।।६९।।

विशेषसङ्ग्रहो यथा सर्वे जीवाः परस्परमविरोधिनः ।।७०।।

।। इति सङ्ग्रहो द्विधा ।।

१. केचित्षोढा—अतीतवर्तमान, वर्तमानातीत, अनागतवर्तमाना, वर्तमाना-नागता, अनागतातीत, अतीतानागत । देखो दिल्ली की प्रति नं० ३१/१०४ ।

व्यवहारोऽपि द्वेधा ॥७१/१॥

सामान्यसङ्ग्रहभेदको व्यवहारो यथा द्रव्याणि जीवाजीवाः ॥७१/२॥

विशेषसङ्ग्रहभेदको व्यवहारो यथा जीवाः संसारिणो मुक्ताश्च ॥७२॥

॥ इति व्यवहारो द्वेधा ।

ऋजुसूत्रोऽपि द्विविधः ॥७३॥

सूक्ष्मर्जुसूत्रो यथा एकसमयावस्थायी पर्यायः ॥७४॥

स्थूलर्जुसूत्रो यथा मनुष्यादिपर्यायास्तदायुः प्रमाणकालं तिष्ठन्ति ॥७५॥

॥ इति ऋजुसूत्रो द्वेधा ॥

शब्दसमभिरूढैवंभूता नयाः प्रत्येकमेकैके नयाः ॥७६॥

शब्दनयो यथा दाराः भार्या कलत्रं जलं आपः ॥७७॥

टिप्पण—यत्र लिंग-संख्या-साधनानां व्यभिचारे सति दोषो नास्ति स शब्दनयः। [नया मन्दिर दिल्ली की प्रति नं० आ. १४ (ख)]

समभिरूढनयो यथा गौः पशुः ॥७८॥

एवं भूतनयो यथा इन्दतीति इन्द्रः ॥७९॥

॥ उक्ता अष्टाविंशतिर्नयभेदाः ॥

उपनयभेदा उच्यन्ते ॥८०॥

सद्भूतव्यवहारो द्विधा ॥८१॥

शुद्धसद्भूतव्यवहारो यथा शुद्धगुणशुद्धगुणिनोः शुद्ध-पर्यायशुद्धपर्यायिणोर्भेदकथनम् ॥८२॥

टिप्पण—शुद्धः=कर्मोपाधिनिरपेक्षः। यथा गुणगुणिनोः=ज्ञान-जीवयोः। पर्यायपर्यायिणोः=सिद्धपर्यायसिद्धजीवयोः।

अशुद्धसद्भूतव्यवहारो यथाऽशुद्धगुणाऽशुद्धगुणिनोरशुद्ध-पर्यायाशुद्धपर्यायिणोर्भेद कथनम् ॥८३॥

॥ इति सद्भूतव्यवहारो द्वेधा ॥



असद्भूतव्यवहारस्त्रेधा ॥८४॥

स्वजात्यसद्भूतव्यवहारो यथा परमाणुर्बहुप्रदेशीति कथन-मित्यादि ।८५।

विजात्यसद्भूतव्यवहारो यथा मूर्तं मतिज्ञानं यतो मूर्त द्रव्येण जनितम् ॥८६॥

स्वजातिविजात्यसद्भूतव्यवहारो यथा ज्ञेये जीवेऽजीवे ज्ञानमिति कथनं ज्ञानस्य विषयात् ॥८७॥

॥ इत्यसद्भूतव्यवहारस्त्रेधा ॥



उपचरितासद्भूतव्यवहारस्त्रेधा ॥८८॥

स्वजात्युपचरितासद्भूतव्यवहारो यथा पुत्रदारादि मम[1] ॥८९॥

---

१. 'दाराद्यहं मम वा' इति पाठांतरं [बूंदी की प्रति में]।

विजात्युपचरितासद्भूतव्यवहारो यथा वस्त्राभरणहेम-रत्नादि मम ॥९०॥

स्वजातिविजात्युपचरितासद्भूतव्यवहारो यथा देशराज्य-दुर्गादि मम ॥९१॥

॥ इत्युपचरितासद्भूतव्यवहारस्त्रेधा ॥

गुणानां व्युत्पत्त्यधिकारः

सहभुवो गुणाः, क्रमवर्तिनः पर्यायाः ॥९२॥

टिप्पण—अन्वयिनो गुणाः । व्यतिरेकिणः परिणामाः पर्यायाः ।

गुण्यते पृथक्क्रियते द्रव्यं द्रव्याद्यैस्ते गुणाः ॥९३॥

टिप्पण—द्रव्यं=द्रव्यान्तरं ।

अस्तीत्येतस्य भावोऽस्तित्वं सद्रूपत्वम् ॥९४॥

वस्तुनो भावो वस्तुत्वम्, सामान्यविशेषात्मकं वस्तु ॥९५॥

द्रव्यस्यभावो द्रव्यत्वम् निजनिजप्रदेशसमूहैरखण्डवृत्या स्वभावविभावपर्यायान् द्रवति द्रोष्यति अदुद्रुवदिति द्रव्यम् ॥९६॥

टिप्पण—द्रवति=प्राप्नोति ।

सद्द्रव्यलक्षणम्, सीदति स्वकीयान् गुणपर्यायान् व्याप्नोतीति सत्; उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् ॥९७॥

प्रमेयस्य भावः प्रमेयत्वम्, प्रमाणेन स्वपररूपं परिच्छेद्यं प्रमेयम् ॥९८॥

टिप्पण—परिच्छेद्यं=ज्ञातुं योग्यम् । प्रमाणं=स्वपरस्वरूप व्यव-

साथि यत् ज्ञानं तत् प्रमाणं, विशेषेण अवस्यति निश्चिनोतीति स्वपरव्यवसायि ।

अगुरुलघोर्भावोऽगुरुलघुत्वम् सूक्ष्मा अवाग्गोचराः प्रतिक्षणं वर्तमाना आगमप्रमाण्यादभ्युपगम्या अगुरुलघुगुणाः ॥९९॥

सूक्ष्मं जिनोदितं तत्त्वं हेतुभिर्नैव हन्यते ।
आज्ञासिद्धं तु तद्ग्राह्यं नान्यथावादिनो जिनाः ॥५॥

टिप्पण—अनुमानादिभिः सिद्धं । जिनाः=अनेकविषमभवगहनव्ययनप्रापणहेतून् कर्मारातीन् शत्रून् जयन्ति क्षयं नयन्तीति जिनाः ।

प्रदेशस्यभावः प्रदेशत्वं क्षेत्रत्वं अविभागिपुद्गलपरमाणुनावष्टब्धम् ॥१००॥

टिप्पण—अवष्टब्धम्=व्याप्तं ।

चेतनस्य भावश्चेतनत्वम् चैतन्यमनुभवनम् ॥१०१॥

टिप्पण—अनुभवनम्=अनुभूतिर्जीवाजीवादिपदार्थानां चेतनमात्रम् ।

चैतन्यमनुभूतिः स्यात् सा क्रियारूपमेव च ।
क्रिया मनोवचःकायेष्वन्विता वर्तते ध्रुवम् ॥६॥

टिप्पण—अनुभूतिः=द्रव्यस्वरूप चिंतनं । क्रियारूपमेव=कर्तव्यस्वरूपमेव । अन्विता=सहिता ।

अचेतनस्य भावोऽचेतनत्वमचैतन्यमननुभवनम् ॥१०२॥

मूर्तस्यभावो मूर्तत्वं रूपादिमत्त्वम् ॥१०३॥

टिप्पण—रूपादिमत्त्वम्=रूपरसगन्धस्पर्शवत्वं ।

अमूर्तस्य भावोऽमूर्तत्वं रूपादिरहितत्वम् ॥१०४॥

॥ इति गुणानां व्युत्पत्तिः ॥

पर्यायस्यव्युत्पत्तिः

स्वभावविभावरूपतया याति पर्येति परिणामतीति पर्यायः ॥१०५॥

टिप्पण—पर्यायः=अय् गतौ अयनं आयः, परिसमन्तात् आयः पर्यायः।

॥ इति पर्यायस्य व्युत्पत्तिः ॥

स्वभाव व्युत्पत्त्यधिकारः

स्वभावलाभादच्युतत्वादस्तिस्वभावः ॥१०६॥

टिप्पण—स्वभावः=स्वस्य स्वेन वा आत्मनो भवनं स्वभावः। लाभात्=व्याप्तेः।

परस्वरूपेणाभावान्नास्तिस्वभावः ॥१०७॥

टिप्पण—अभावात्=अभवनात्।

निज-निज- नानापर्यायेषु तदेवेदमिति द्रव्यस्योपलम्भान्नित्यस्वभावः ॥१०८॥

टिप्पण—उपलम्भात्=प्राप्तितः।

तस्याप्यनेकपर्यायपरिणामितत्वादनित्यस्वभावः ॥१०९॥

टिप्पण—तस्य - द्रव्यस्य।

स्वभावानामेकाधारत्वादेकस्वभावः ॥११०॥

एकस्याप्यनेकस्वभावोपलम्भादनेक स्वभावः ॥१११॥

गुणगुण्यादिसंज्ञादिभेदाद् भेदस्वभावः ॥११२॥

टिप्पण—संज्ञादि=संज्ञा संख्या लक्षण प्रयोजनानि। गुणगुणीति संज्ञानाम। गुणा अनेके, गुणीत्वेक इति संख्या भेदः। सद्द्रव्यलक्षणं,

द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः इति लक्षणभेदः। द्रव्येण लोकमानं क्रियते, गुणेन द्रव्यं ज्ञायते, इति प्रयोजन भेदः। यथा जीवद्रव्यस्य जीव इति संज्ञा। ज्ञानगुणस्य ज्ञानमिति संज्ञा। चतुर्भिप्राणैः 'जीवति जीविष्यति अजीवतिति जीवद्रव्यलक्षणं। ज्ञायते पदार्थं अनेनेति ज्ञानमिति ज्ञानगुणलक्षणं। जीवद्रव्यस्य बंधमोक्षादिपर्यायैरविनश्वर-रूपेणपरिणमनं प्रयोजनं। ज्ञानगुणस्य पुनः पदार्थपरिच्छित्ति मात्रमेव प्रयोजनं इति संक्षेपेण।

गुणगुण्याद्येकस्वभावादभेदस्वभावः ॥११३॥

भाविकाले परस्वरूपाकारभवनाद्भव्यस्वभावः ॥११४॥[1]

कालत्रयेऽपि परस्वरूपाकाराभवनादभव्यस्वभावः ॥११५॥

उक्तञ्च—

अण्णोण्णं पविसंता दिंता उग्गासमण्णमण्णस्स।
मेलंता वि य णिच्चं सगसगभावं ण विजहंति ॥७॥[2]

पारिणामिकभावप्रधानत्वेन परमस्वभावः ॥११६॥

टिप्पण—परिणामे स्वस्यभावे भवः पारिणामिकः।

॥ इति सामान्यस्वभावानां व्युत्पत्तिः ॥

प्रदेशादिगुणानां व्युत्पत्तिश्चेतनादि विशेषस्वभावानां च व्युत्पत्तिर्निगदिता ॥११७॥

धर्मापेक्षया स्वभावा गुणा न भवन्ति ॥११८॥

टिप्पण—धर्मापेक्षया=स्वभावापेक्षया।

---

१. 'भाविकाले स्वस्वभाव भवनाद् भव्य स्वभावः।' —नय चक्र संस्कृत पृ० ६२। २. पंचास्तिकाय गाथा ७।

स्वद्रव्यचतुष्टयापेक्षया परस्परं गुणाः स्वभावा भवन्ति ॥११९॥

टिप्पण—चतुष्टयः=स्वद्रव्यं स्वक्षेत्रं स्वकालः स्वभावः।

द्रव्याण्यपि भवन्ति ॥१२०॥

स्वभावादन्यथाभवनं विभावः ॥१२१॥

शुद्धं केवलभावमशुद्धं तस्यापि विपरीतम् ॥१२२॥

टिप्पण—तस्य=शुद्धस्य।

स्वभावस्याप्यन्यत्रोपचारादुपचरितस्वभावः ॥१२३॥

टिप्पण—उपचरितस्वभावः=यथा सिंहो माणवकः (माणवको मार्जारः)।

स द्वेधा कर्मज-स्वाभाविक-भेदात्। यथा जीवस्य मूर्तत्वमचेतनत्वं। यथा सिद्धात्मनां परज्ञता परदर्शकत्वं च ॥१२४॥

एवमितरेषां द्रव्याणामुपचारो यथा सम्भवो ज्ञेयः ॥१२५॥

टिप्पण—इतरेषां=पुद्‌गलादि पंचद्रव्याणां।

॥ इति विशेषस्वभावानां व्युत्पत्तिः ॥

दुर्णयैकान्तमारूढा भावानां[1] स्वार्थिका हि ते।
स्वार्थिकाश्च[2] विपर्यस्ताः सकलङ्का नया यतः ॥८॥

टिप्पण—दुर्दुष्टो नयो दुर्णयः। बौद्धादिभिः अंगीकृतः तस्यैकांतस्तं कर्म्मतापन्नं। दुर्नयैकांताद्विपरीताः नयस्यांगीकारे। तेनैव प्रकारेण।

---

१. 'भावा न' इति पाठांतरं (बूंदी की प्रति तथा संस्कृत नय चक्र)।
२. 'स्वात्मिकाश्च' इति पाठांतरं (दिल्ली प्रति नं० ३१।१०४)।

तत्कथं ? ॥१२६॥

तथाहि—सर्वथैकान्तेन सद्रूपस्य न नियतार्थव्यवस्था संकरादिदोषत्वात् ॥१२७॥

टिप्पण—तथाहि=पूर्वोदूर्ध्वं विवृणोति । नियतार्थव्यवस्था=नियमितपदार्थव्यवस्था । सद्रूपस्य=सद्रूपस्य अंगीकारात् । संकरादिदोषः=संकर व्यतिकर विरोध वैयधिकरण्य अनवस्था संशय अप्रतिपत्ति अभाव इत्यष्टौ संकरादि दोषाः । सर्ववस्तूनां एकवस्तु भवनं संकरः ॥१॥ यस्य वस्तुनः केनापि प्रकारेण स्थितिर्न भवति स व्यतिकरः ॥२॥ यज्जड़स्य चेतनो भवति चेतनस्य जड़ो भवति स विरोधः ॥३॥ अनेक वस्तूनाम् एक वस्तुनि विषमतया स्थितिः तद् वैयधिकरण्यं ॥४॥ एकस्मात् द्वितीयो, द्वितीयात् तृतीयस्तस्माच्चतुर्थः एवं जड़स्य चैतन्यं चैतन्याज्जड़स्तदनवस्थादूषणं ॥५॥ यज्जड़स्य चैतन्यमुच्यते च पुनः चैतन्यस्य जड़उच्यतेऽयं संशयः ॥६॥ यस्यैकस्मिन्नपि काले जड़स्य चैतन्यस्य निश्चयो न भवति तदप्रतिपत्तिदूषणं ॥७॥ सर्वथा वस्तुनो नाशएव भवति स अभावोदोषः प्रोच्यते ॥८॥

तथासद्रूपस्य सकलशून्यताप्रसंगात् ॥१२८॥

टिप्पण—असद्रूपस्य=असद्रूपनयस्यांगीकारे ।

नित्यस्यैकरूपत्वादेकरूपस्यार्थक्रियाकारित्वाभावः । अर्थक्रियाकारित्वाभावे द्रव्यस्याप्यभावः ॥१२९॥

अनित्यपक्षेपि निरन्वयत्वात्[1] अर्थक्रियाकारित्वाभावः । अर्थक्रियाकारित्वाभावे द्रव्यस्याप्यभावः ॥१३०॥

टिप्पण—निरन्वयत्वात्=निर्द्रव्यत्वात् ।

१. अनित्यरूपत्वादित्यपि पाठः ।

एकस्वरूपस्यैकान्तेन विशेषाभावः सर्वथैकरूपत्वात्, विशेषाभावे सामान्यस्याप्यभावः ॥१३१॥

टिप्पण—विशेषः=शिवक छत्रक स्थाश कोश कुशूल घटादि विशेषः।

निर्विशेषं हि सामान्यं भवेत् खरविषाणवत्।

सामान्यरहित्वाच्च विशेषस्तद्वदेव हि ॥६॥ इति ज्ञेयः।

अनेकपक्षेऽपि तथा द्रव्याभावो निराधारत्वात् आधाराधेयाभावाच्च ॥१३२॥

भेदपक्षेऽपि विशेषस्वभावानां निराधारत्वादर्थक्रियाकारित्वाभावः, अर्थक्रियाकारित्वाभावे द्रव्यस्याप्यभावः ॥१३३॥

अभेदपक्षेऽपि सर्वेषामेकत्वम्, सर्वेषामेकत्वेऽर्थक्रियाकारित्वाभावः, अर्थक्रियाकारित्वाभावे द्रव्यस्याप्यभावः ॥१३४॥

टिप्पण—सर्वेषाम्=द्रव्याणां।

भव्यस्यैकान्तेन पारिणामिकत्वात् द्रव्यस्य द्रव्यान्तरत्व प्रसङ्गात्, सङ्करादिदोषसम्भवात् ॥१३५॥

टिप्पण—सङ्करादि= सङ्करव्यतिकरविरोधवैयधिकरण्यानवस्था संशयाप्रतिपत्त्यभावाश्चेति ॥ [सूत्र १२७ के टिप्पण में विशेष व्याख्यान है।]

सर्वथाऽभव्यस्यैकान्तेऽपि तथा शून्यताप्रसङ्गात् स्वरूपेणाप्यभवनात् ॥१३६॥

टिप्पण—अभव्यस्यपक्षस्यांगीकारे सति।

स्वभावस्वरूपस्यैकान्तेन संसाराभावः ॥१३७॥

विभावपक्षेऽपि मोक्षस्याप्यभावः ॥१३८॥

सर्वथाचेतन्यमेवेत्युक्ते सर्वेषां शुद्धज्ञानचैतन्यावाप्तिः स्यात्, तथा सति ध्यानं ध्येयं ज्ञानं ज्ञेयं गुरुःशिष्याद्याभावः ॥१३९॥

टिप्पण सर्वेषां=सर्वजीवानां ।

सर्वथाशब्दः सर्वप्रकारवाची, अथवा सर्वकालवाची, अथवा नियमवाची वा, अनेकान्तसापेक्षी वा ? यदि सर्वप्रकारवाची सर्वकालवाची अनेकान्तवाची वा, सर्वादिगणे पठनात् सर्व-शब्द, एवं विधश्चेत्तर्हि सिद्धं नः समीहितम् । अथवा नियम-वाची चेत्तर्हि सकलार्थानां तव प्रतीतिः कथं स्यात् ? नित्यः अनित्यः एकः अनेकः भेदः अभेदः कथं प्रतीतिः स्यात् नियमितपक्षत्वात् ?॥१४०॥

टिप्पण—नः=अस्माकं ।

तथाऽचैतन्यपक्षेऽपि सकलचैतन्योच्छेदः स्यात् ॥१४१॥

मूर्तस्यैकान्तेनात्मनो नः मोक्षस्यावाप्तिः[1] स्यात् ॥१४२॥

सर्वथाऽमूर्तस्यापि तथात्मनः संसारविलोपःस्यात् ॥१४३॥

एकप्रदेशस्यैकान्तेनाखण्डपरिपूर्णस्यात्मनोऽनेककार्यकारित्व एव हानिः स्यात् ॥१४४॥

टिप्पण—एकप्रदेशस्य=एकप्रदेशस्य पक्षस्यांगीकारे ।

सर्वथाऽनेकप्रदेशत्वेऽपि तथा तस्यानर्थकार्यकारित्वं स्व-स्वभावशून्यताप्रसङ्गात् ॥१४५॥

---

१. "मोक्षस्यान्यप्तिः' इत्यपि पाठः (बूंदी की प्रति) ।

टिप्पण—तस्य=आत्मनः।

शुद्धस्यैकान्तेनात्मनो न कर्ममलकलङ्कावलेपः सर्वथा निरञ्जनत्वात् ॥१४६॥

सर्वथाऽशुद्धैकान्तेऽपि तथात्मनो न कदापि शुद्धस्वभाव-प्रसङ्गः तन्मयत्वात् ॥१४७॥

टिप्पण—तन्मयत्वात्=अशुद्धस्वभावमयत्वात्।

उपचरितैकान्तपक्षेऽपि नात्मज्ञता सम्भवति नियमित-पक्षत्वात् ॥१४८॥

तथात्मनोऽनुपचरितपक्षेऽपि परज्ञतादीनां विरोधः स्यात् ॥१४९॥

टिप्पण—मुख्याभावे सति प्रयोजने निमित्ते चोपचारः प्रवर्तते।

॥ एवं एकान्तपक्षे दोषाः ॥



नानास्वभावसंयुक्तं द्रव्यं ज्ञात्वा प्रमाणतः।
तच्च सापेक्षसिद्धयर्थं स्यान्नयमिश्रितं[1] कुरु ॥१०॥

टिप्पण—तत्=द्रव्यं।

स्वद्रव्यादिग्राहकेणास्तिस्वभावः ॥१५०॥

परद्रव्यादिग्राहकेण नास्तिस्वभावः ॥१५१॥

उत्पादव्ययगौणत्वेन सत्ताग्राहकेण नित्यस्वभावः ॥१५२॥

केनचित्पर्यायार्थिकेनानित्यस्वभावः ॥१५३॥

भेदकल्पनानिरपेक्षेणैकस्वभावः ॥१५४॥

अन्वयद्रव्यार्थिकेनैकस्याप्यनेकद्रव्यस्वभावत्वम् ॥१५५॥

१. 'स्यान्नयैर्मिश्रितं' इत्यपि पाठः [दिल्ली प्रति नं० ३१।१०४]।

टिप्पण—अन्वयः=बालवृद्धावस्थायां अयं देवदत्तोऽयं देवदत्तः ।

सद्भूतव्यवहारेण गुणगुण्यादिभिर्भेदस्वभावः ॥१५६॥

भेदकल्पनानिरपेक्षेण गुणगुण्यादिभिरभेदस्वभावः ॥१५७॥

परमभावग्राहकेण भव्याभव्यपारिणामिकस्वभावः ॥१५८॥

टिप्पण—परमभावग्राहकेण=परमभावग्राहकनयेन ।

शुद्धाशुद्धपरमभावग्राहकेण चेतनस्वभावो जीवस्य ॥१५९॥

असद्भूतव्यवहारेण कर्मनोकर्मणोरपि चेतनस्वभावः ॥१६०॥

परमभावग्राहकेण कर्मनोकर्मणोरचेतनस्वभावः ॥१६१॥

जीवस्याप्यसद्भूतव्यवहारेणाचेतनस्वभावः ॥१६२॥

परमभावग्राहकेण कर्मनोकर्मणोर्मूर्त्तस्वभावः ॥१६३॥

जीवस्याप्यसद्भूतव्यवहारेण मूर्तस्वभावः ॥१६४॥

परमभावग्राहकेण पुद्गलं विहाय इतरेषाममूर्तस्वभावः ॥१६५॥

टिप्पण—इतरेषाम्=जीवधर्माधर्माकाशकालानाम् ।

पुद्गलस्योपचारादेवास्त्यमूर्त्तत्वम् ॥१६६॥[1]

परमभावग्राहकेण कालपुद्गलाणूनामेकप्रदेशस्वभावत्वम् ॥१६७॥

भेदकल्पनानिरपेक्षेणेतरेषां चाखण्डत्वादेकप्रदेशत्वम् ॥१६८॥

टिप्पण—इतरेषाम्=धर्माधर्माकाशजीवानां ।

---

१. यह सूत्र माणिकचन्द दि० जैन ग्रन्थमाला तथा नातेपुते से प्रकाशित प्रतियों के अनुसार है ।

भेदकल्पनासापेक्षेण चतुर्णामपि नानाप्रदेशस्वभावत्वम् ॥१६९॥

पुद्गलाणोरुपचारतो नानाप्रदेशत्वम्; न च कालाणोः स्निग्धरूक्षत्वाभावात् ऋजुत्वाच्च[1] ॥१७०॥

अणोरमूर्तकालस्यैकविंशतितमो भावो न स्यात् ॥१७१॥

परोक्षप्रमाणापेक्षयाऽसद्भूतव्यवहारेणाप्युपचारेणामूर्तत्वं पुद्गलस्य ॥१७२॥[3]

शुद्धाशुद्धद्रव्यार्थिकेन स्वभावविभावत्वम् ॥१७३॥

टिप्पण—विभावत्वम्=जीवपुद्गलयोः विभावत्वम् ।

शुद्धद्रव्यार्थिकेन शुद्धस्वभावः ॥१७४॥

अशुद्धद्रव्यार्थिकेनाशुद्धस्वभावः ॥१७५॥

असद्भूतव्यवहारेण उपचरितस्वभावः ॥१७६॥

द्रव्याणां तु यथारूपं तल्लोकेऽपि व्यवस्थितम् ।
तथाज्ञानेन संजातं नयोऽपि हि तथाविधः ॥११॥

॥ इति नययोजनिका ॥

---

१. 'ऋजुत्वाच्च' यह पाठ नयामन्दिर दिल्ली की प्रति नं० आ १४ (ङ) तथा अजमेर व वैदवाड़ा मन्दिर दिल्ली की प्रतियो के अनुसार है ।

२. इस सूत्र मे 'कालस्य' यह पाठ माणिकचन्द्र ग्रथमाला तथा नातेपुते से प्रकाशित प्रतियों के अनुसार है ।

३. इस सूत्र का यह पाठ माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला तथा नातेपुते से प्रकाशित प्रतियों के अनुसार हे । श्री क्षु० सिद्धसागर जी द्वारा सपादित नयचक्र मे सूत्र १७१ व १७२ नहीं है ।

सकलवस्तु ग्राहकं प्रमाणं, प्रमीयते परिच्छिद्यते वस्तुतत्त्वं येन ज्ञानेन तत्प्रमाणम् ॥१७७॥

टिप्पण—परिच्छिद्यते=निश्चयते। तत्त्वं=स्वरूपं।

तद्द्वेधा सविकल्पेतरभेदात् ॥१७८॥

सविकल्पं मानसं तच्चतुर्विधम् मतिश्रुतावधिमनःपर्ययरूपम् ॥१७९॥

निर्विकल्पं मनोरहितं केवलज्ञानम् ॥१८०॥

॥ इति प्रमाणस्य व्युत्पत्तिः ॥

प्रमाणेन वस्तुसंगृहीतार्थैकांशो नयः, श्रुतविकल्पो वा, ज्ञातुरभिप्रायो वा नयः, नानास्वभावेभ्यो व्यावृत्य एकस्मिन्स्वभावे वस्तु नयति प्राप्नोतीति वा नयः ॥१८१॥

स द्वेधा सविकल्पनिर्विकल्पभेदात् ॥१८२॥

। इति नयस्य व्युत्पत्तिः ॥

प्रमाणनययोर्निक्षेपणं आरोपणं निक्षेपः स नामस्थापनादिभेदेन चतुर्विधः ॥१८३॥

टिप्पण—नामस्थापनादिभेदेन=नामस्थापनाद्रव्यभावभेदेन। नामस्थापनाद्रव्यभावतस्तन्न्यासरिति सूत्रणात्। अतद्गुणे वस्तुनि संव्यवहारार्थं पुरुषाकारान्नियुज्यमानं संज्ञाकर्म नामोच्यते। काष्ठपुस्तचित्रकर्माक्षनिक्षेपादिषु सोऽयमिति स्थाप्यमाना स्थापना। गुणैः द्रोष्यते गुणान् द्रोष्यतीति वा द्रव्यं। वर्तमानं तत्पर्यायोपलक्षितं द्रव्यं भावः। तद्यथा नामजीवः, स्थापनोजीवो, द्रव्य-जीवो, भावजीवः। इति चतुर्धा जीवशब्दार्थो नयस्यते। तथा चोक्तं गाहा—

णामजिणा जिणणाम, ठवणजिणा पुण जिणंदपडिमाओ।
दव्वंजिणा जिणजीवा भावजिणा समवसरणत्था॥

॥ इति निक्षेपस्य व्युत्पत्तिः ॥

द्रव्यमेवार्थः प्रयोजनमस्येति द्रव्यार्थिकः ॥१८४॥

शुद्धद्रव्यमेवार्थः प्रयोजनमस्येति शुद्धद्रव्यार्थिकः ॥१८५॥

अशुद्धद्रव्यमेवार्थः प्रयोजनमस्येति अशुद्धद्रव्यार्थिकः ॥१८६॥

सामान्यगुणादयोऽन्वयरूपेण द्रव्यमिति व्यवस्थापयतीति अन्वयद्रव्यार्थिकः ॥१८७॥

टिप्पण—स्वभावयुक्तमपि द्रव्यं, गुणयुक्तमपि द्रव्यं इत्युच्यते पर्याययुक्तमपि द्रव्यं इत्युच्यते अतः कारणात् द्रव्यत्वाज्जातिः कुत्रापि-नायाति, तथापि स्वभावविभावत्वेन अस्तिस्वभावः नास्तिस्वभावः नित्यस्वभावेत्यादि अनेकस्वभावान् एकद्रव्यस्वरूपेण प्राप्य भिन्नभिन्न-नाम व्यवस्थापयति इति अन्वयद्रव्यार्थिकः। [यह टिप्पण अजमेर की प्रति पृष्ठ १३।१ पर है]

सामान्यं=जीवत्वादि। गुणाः=ज्ञानादयः। [सूत्र व यह टिप्पण अजमेर प्रति ४४० के अनुसार है]

स्वद्रव्यादिग्रहणमर्थः प्रयोजनमस्येति स्वद्रव्यादिग्राहकः ॥१८८॥

परद्रव्यादिग्रहणमर्थः प्रयोजनमस्येति परद्रव्यादिग्राहकः ॥१८९॥

परमभावग्रहणमर्थः प्रयोजनमस्येति परमभावग्राहकः ॥१९०॥

॥ इति द्रव्यार्थिकस्य व्युत्पत्तिः ॥



पर्याय एवार्थः प्रयोजनमस्येति पर्यायार्थिकः ॥१९१॥

अनादिनित्यपर्याय एवार्थः प्रयोजनमस्येत्यानादिनित्यपर्यायार्थिकः ॥१९२॥

टिप्पण—अनादिनित्य पर्यायार्थिको यथा पुद्गलपर्यायो नित्यो मेर्वादिः ।

सादिनित्यपर्याय एवार्थः प्रयोजनमस्येति सादिनित्यपर्यायार्थिकः ॥१९३॥

टिप्पण—सादिनित्यपर्यायार्थिको यथा सिद्धजीवपर्यायो नित्यः ।

शुद्धपर्याय एवार्थः प्रयोजनमस्येति शुद्धपर्यायार्थिकः ॥१९४॥

अशुद्धपर्याय एवार्थः प्रयोजनमस्येति अशुद्धपर्यायार्थिकः ॥१९५॥

॥ इति पर्यायार्थिकस्य व्युत्पत्तिः ॥



नैकं गच्छतीति निगमः, निगमोविकल्पस्तत्रभवो नैगमः ॥१९६॥

अभेदरूपतया वस्तुजातं संगृह्णातीति संग्रहः ॥१९७॥

टिप्पण—वस्तुजातं=वस्तुसमूहं ।

संग्रहेण गृहीतार्थस्य भेदरूपतया वस्तुव्यवह्रियत इति व्यवहारः ॥१९८॥

ऋजु प्रांजलं सूत्रयतीति ऋजुसूत्रः ॥१९९॥

टिप्पण—प्रांजलं=अवक्रं। सूत्रयति=गृह्णाति।

शब्दात् व्याकरणात् प्रकृतिप्रत्ययद्वारेण सिद्धः शब्दः शब्दनयः ॥२००॥

परस्परेणाभिरूढाः समभिरूढाः। शब्दभेदेऽप्यर्थभेदोनास्तिः। यथा शक्र इन्द्रः पुरन्दर इत्यादयः समभिरूढाः ॥२०१॥

टिप्पण—रूढया=प्रसिद्धः।

एवं क्रियाप्रधानत्वेन भूयत इत्येवं भूतः ॥२०२॥

टिप्पण—एवमित्युक्ते कोऽर्थः? क्रियाप्रधानत्वेनेति विशेषणम्। ग्रामे वृक्षे विटपे शाखायां तत्प्रदेशके काये कण्ठे चरौति शकुनिर्यथा क्रमो नैगमादीनाम्। नैगमादिनयानामुदाहरणरूपेणेयं आर्या।

शुद्धाशुद्धनिश्चयौ द्रव्यार्थिकस्य भेदौ ॥२०३॥

अभेदानुपचारितया वस्तुनिश्चीयत इति निश्चयः ॥२०४॥

भेदोपचारितया वस्तुव्यवह्रियत इति व्यवहारः ॥२०५॥

टिप्पण—भेदोपचारतया=भिन्नत्वस्योपचारतया।

गुणगुणिनोः संज्ञादिभेदात् भेदकः सद्भूतव्यवहारः ॥२०६॥

अन्यत्र प्रसिद्धस्य धर्मस्यान्यत्र समारोपणमसद्भूतव्यवहारः ॥२०७॥

टिप्पण—अन्यत्र=पुद्गलादौ। धर्मस्य=स्वभावस्य। अन्यत्र=जीवादौ।

असद्भूतव्यवहार एवोपचारः, उपचारादप्युपचारं यः करोति स उपचरितासद्भूतव्यवहारः ॥२०८॥

गुणगुणिनोः पर्यायपर्यायिणोः स्वभावस्वभाविनोः कारक-कारकिणोर्भेदः सद्भूतव्यवहारस्यार्थः ॥२०९॥

टिप्पण—उष्णस्वभावः, अग्निःस्वभावी। मृत्पिंडस्य शक्तिविशेषः कारकः। मृतपिंडस्तु कारकी।

१. द्रव्ये द्रव्योपचारः, २. पर्याये पर्यायोपचारः, ३. गुणे गुणोपचारः, ४. द्रव्ये गुणोपचारः, ५. द्रव्ये पर्यायोपचारः, ६. गुणे द्रव्योपचारः, ७. गुणे पर्यायोपचारः, ८. पर्याये द्रव्योपचारः, ९. पर्याये गुणोपचार इति नवविधोपचारः असद्भूतव्यवहारस्यार्थो द्रष्टव्यः ॥२१०॥

टिप्पण—नवोपचारनयानामसद्भूतव्यवहारार्थानां स्वरूपविवरणं लिख्यते। १. पुद्गले जीवोपचारः, स पुद्गल एकेन्द्रिय जीवः, ईदृशो यदा प्रोच्यते तदा विजातिद्रव्यपुद्गले विजातिद्रव्यजीवस्यारोपणं क्रियते स असद्भूतव्यवहारो ज्ञेयः अयं द्रव्ये द्रव्योपचारः। २. अस्मिन्नस्य प्रतिबिम्बं वर्तते, यदेदृशमुच्यते तदा स्वजातिपर्याय प्रतिबिम्बे स्वजातिपर्यायप्रतिबिम्बितपुरुषादिपर्यायारोपणं विधीयते, स्फाटिकेऽन्यपर्यायप्रतिबिम्बवत्, सोऽसद्भूतव्यवहारो ज्ञेयः, अयं पर्याये पर्यायोपचारः। ३. मूर्तं मतिज्ञानं यदेदृशमुच्यते तदा विजाति गुणज्ञाने विजातिगुणमूर्तस्यारोपणं क्रियते, सोऽसद्भूतव्यवहारो ज्ञेयः, अयं गुणे गुणोपचारः। ४. ज्ञेयो जीवोऽजीवः यदेदृशमुच्यते तदा जीवेऽजीवे ज्ञानोपचारः प्रोक्तः। तत्र स्वजातिद्रव्ये विजातिद्रव्ये च स्वजातिविजातिगुणस्यारोपणं सोऽसद्भूतव्यवहारो ज्ञेयः, अयं द्रव्ये गुणोपचारः। ५. परमाणुः बहुप्रदेशी, यदेदृशं प्रोच्यते, तदा स्वजाति

द्रव्यपरमाणुपुद्गले स्वजातिविभावपर्यायो बहुप्रदेशी तस्यारोपणं सोऽसद्भूतव्यवहारो ज्ञेयः, अयं द्रव्ये पर्यायोपचारः। ६. श्वेतः प्रासादः, यदेदृशमुच्यते तदा स्वजातिगुण श्वेते स्वजातिद्रव्यप्रासादस्यारोपणं क्रियते सोऽसद्भूतव्यवहारो ज्ञेयः, अयं गुणे द्रव्योपचारः। ७. ज्ञाने परिणमति सति ज्ञानं पर्यायान् गृह्णाति, यदेदृशमुच्यते, तदा विजातिगुणे विजातिपर्यायारोपणं, सोऽयमसद्भूत व्यवहारो बोध्यः, अयं गुणे पर्यायोपचारः। ८. स्थूलं स्कंधं प्रेक्ष्य पुद्गलद्रव्यमिदं यदेदृशमुच्यते, तदा स्वजातिविभाव पर्याये स्वजाति द्रव्यारोपणं, सोऽसद्भूत व्यवहारो ज्ञेयः, अयं पर्याये द्रव्योपचारः। ९. अस्यदेहो रूपवान्, यदेदृशं प्रोच्यते, तदा स्वजातिपर्याये स्वजातिगुणारोपणं विहितं, सोऽयमसद्भूतव्यवहारः, अत्र पर्याये गुणोपचारः। इति नवधोपचारनयो व्याख्यातः।[1]

पर्यायेपर्यायोपचारः=यथा घटपर्याये ज्ञानमिति कथनं। द्रव्ये गुणोपचारः=श्वतः जीवस्य कथनं। द्रव्ये पर्यायोपचारः=नरनारकादि पर्यायः। गुणे द्रव्योपचारः=ज्ञानगुणविषै ज्ञेयकथनं।[2]

उपचारः पृथग् नयो नास्तीति न पृथक् कृतः ॥२११॥

मुख्याभावे सति प्रयोजने निमित्ते चोपचारः प्रवर्तते ॥२१२॥

टिप्पण—सिंहो माणवकः, इत्यत्र मुख्यत्वेन सिंहाभावः उपचारः। अत्र कोपि प्रश्नं करोति—उपचारनयः कथं भिन्नः उक्तः, व्यवहारस्यैवभेदोऽयं तस्माद् व्यवहार एव वक्तव्यः? तत्रोत्तरं दीयते—उपचार कथनेन विना कस्यैककार्यस्य सिद्धिर्न भवति। पुनरुपचारस्तत्र विधीयते। यत्र मुख्यवस्तुनोभावो भवेत् च प्रयोजनं निमित्तमुपलभ्योपचार प्रवर्तनं क्रियते। सोप्युपचारः सम्बन्धं विना न भवति। स सम्बन्धो यथा परिणामपरिणामिनोः, ज्ञानज्ञेययोः, चारित्रं

१. बूंदी व अजमेर की प्रति से।
२. नया मंदिर, दिल्ली की प्रति नं० अ १४ (ख)।

चर्यावतोः, अन्ययोरपि बहुतरयो सम्बन्धः सत्यासत्यार्थो भवति। एवमुपचरितासद्भूतव्यवहार प्रवर्तनं संपाद्यते। ततः उपचरित नयो भिन्नः प्रोक्तः।

सोऽपि सम्बन्धोऽविनाभावः, संश्लेषः सम्बन्धः, परिणाम-परिणामिसम्बन्धः, श्रद्धाश्रद्धेयसम्बन्धः, ज्ञानज्ञेयसम्बन्धः, चारित्रचर्यासम्बन्धश्चेत्यादि सत्यार्थः असत्यार्थः सत्यासत्यार्थ-श्चेत्युपचरितासद्भूतव्यवहारनयस्यार्थः ॥२१३॥

अध्यात्मनयों का कथन—

पुनरप्यध्यात्मभाषया नया उच्यन्ते ॥२१४॥

तावन्मूलनयौ द्वौ निश्चयो व्यवहारश्च ॥२१५॥

तत्र निश्चयनयोऽभेदविषयो, व्यवहारो भेदविषयः ॥२१६॥

टिप्पण—अभेद विषयो ज्ञेयः यस्य सः निश्चयनयः। भेदेन ज्ञातुं योग्यः सो व्यवहारनयः।

तत्र निश्चयो द्विविधः शुद्धनिश्चयोऽशुद्धनिश्चयश्च ॥२१७

तत्र निरुपाधिकगुणगुण्यभेद विषयकः शुद्धनिश्चयो यथा केवलज्ञानादयो जीव इति ॥२१८॥

सोपाधिक विषयोऽशुद्धनिश्चयो यथा मतिज्ञानादयो जीव इति ॥२१९॥

टिप्पण—उपाधिना कर्मजनितविकारेण सह वर्तत इति सोपाधिः।

व्यवहारो द्विविधः सद्भूतव्यवहारोऽसद्भूतव्यवहारश्च ॥२२०॥

तत्रैकवस्तुविषयः सद्भूतव्यवहारः ॥२२१॥

टिप्पण—यथा वृक्ष एक एव तल्लग्नाः शाखा भिन्नाः; परन्तु वृक्ष एव तथा सद्भूतव्यवहारो गुणगुणिनोर्भेद कथनम्।

भिन्नवस्तुविषयोऽसद्भूतव्यवहारः ॥२२२॥

टिप्पण—एकस्थाने यथा एडकास्तिष्ठन्ति परन्तु पृथक् पृथक् तथा असद्भूतव्यवहारः ।

तत्र सद्भूतव्यवहारो द्विविध उपचरितानुपचरितभेदात् ॥२२३॥

तत्र सोपाधिगुणगुणिनोर्भेदविषयः उपचरितसद्भूतव्यवहारो यथा जीवस्य मतिज्ञानादयो गुणाः ॥२२४॥

टिप्पण—अशुद्धगुणगुणिनोः भेदकथनमुपचरितसद्भूतव्यवहारः ।

निरुपाधिगुणगुणिनोर्भेदविषयोऽनुपचरितसद्भूतव्यवहारो यथा जीवस्यकेवलज्ञानादयो गुणाः ॥२२५॥

टिप्पण—शुद्धगुणगुणिनोः भेदकथनमनुपचरितसद्भूतव्यवहारः ।

असद्भूतव्यवहारो द्विविधः उपचरितानुपचरितभेदात् ॥२२६॥

तत्र संश्लेषरहितवस्तुसम्बन्धविषय उपचरितासद्भूतव्यवहारो यथा देवदत्तस्य धनमिति ॥२२७॥

संश्लेषसहितवस्तुसम्बन्धविषयोऽनुपचरितासद्भूतव्यवहारो यथा जीवस्य शरीरमिति ॥२२८॥

॥ इति सुखबोधार्थमालापपद्धतिः श्रीमद्देवसेनविरचिता परिसमाप्ता ॥

तेतीस व्यंजनाए सत्तावीसं स्वरा तहा भणिया ।
चत्तारिय योगवाहा चउसट्ठी मूल वण्णाउ ॥



❀ ॐ ❀

श्री आचार्य-देवसेन-विरचित

आलापपद्धतिः

मंगलाचरण पूर्वक ग्रंथकार की प्रतिज्ञा—

गुणानां विस्तरं वक्ष्ये स्वभावानां तथैव च ।
पर्यायाणां विशेषेण नत्वा वीरं जिनेश्वरम् ।।१।।

अन्वयार्थ—(वीरं जिनेश्वरं) विशेष रूप से मोक्ष लक्ष्मी को देने वाले वीर जिनेश्वर को अर्थात् श्री महावीर भगवान को (नत्वा) नमस्कार करके (अहं) मैं देवसेनाचार्य (गुणानां) द्रव्यगुणों के (तथैव च) और उसी प्रकार से (स्वभावानां) स्वभावों के तथा (पर्यायाणां) पर्यायों के भी (विस्तरं) विस्तार को (विशेषेण) विशेष रूप से (वक्ष्ये) कहता हूँ। अर्थात् गुण, स्वभाव और पर्यायों के स्वरूप विस्तारपूर्वक वर्णन करता हूँ।

विशेषार्थ—यह मंगलरूप श्लोक देशामर्षक होने से मंगल, निमित्त, हेतु, परिमाण, नाम और कर्ता इन छह अधिकारों का सकारण प्ररूपण किया जाता है। कहा भी है—

मंगल-णिमित्त-हेऊ परिमाणं णाम तह य कत्तारं ।
वागरिय छ प्पि पच्छा वक्खाणउ सत्थमाइरियो[1] ।।

मंगल, निमित्त, हेतु, परिमाण, नाम और कर्ता इन छह अधिकारों का व्याख्यान करने के पश्चात् आचार्य शास्त्र का व्याख्यान करे।

---

१. धवल पु० १ पृ० ७।

मंग-शब्दोऽयमुद्दिष्टः पुण्यार्थस्याभिधायकः।
तल्लातीत्युच्यते सद्भिर्मङ्गलं मङ्गलार्थिभिः ॥[1]
पापं मलमिति प्रोक्तमुपचार-समाश्रयात्।
तद्धि गालयतीत्युक्तं मङ्गलं पण्डितैर्जनैः ॥[2]

यह मंग शब्द पुण्यरूप अर्थ का प्रतिपादन करने वाला माना गया है, उस पुण्य को जो लाता है उसे मंगल के इच्छुक सत्पुरुष 'मंगल' कहते हैं। उपचार से पाप को भी मल कहा है। इसलिये जो उसका गालन अर्थात् नाश करता है उसे भी पण्डितजन 'मंगल' कहते हैं।

मंगल, पुण्य, पूत, पवित्र, प्रशस्त, शिव, शुभ, कल्याण, भद्र और सौख्य इत्यादि मंगल के पर्यायवाची नाम हैं।[3]

आदौ मध्येऽवसाने च मङ्गलं भाषितं बुधैः।
तज्जिनेन्द्रगुणस्तोत्रं तदविघ्नप्रसिद्धये ॥[4]

विद्वान् पुरुषों ने, प्रारम्भ किये गये किसी भी कार्य के आदि, मध्य और अन्त में मंगल करने का विधान किया है। वह मंगल निर्विघ्न कार्यसिद्धि के लिये जिनेन्द्र भगवान् के गुणों का कीर्तन करना ही है।

यदि यह कहा जाय कि जिनेन्द्र भगवान् के गुणों का कीर्तन तथा नमस्कार व्यवहारनय का विषय है और शुभ परिणाम रूप होने से मात्र पुण्य-बन्ध का ही कारण है, अतः मंगल नहीं करना चाहिये— तो ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि गौतम स्वामी ने व्यवहारनय का आश्रय लेकर 'कृति' आदि चौवीस अनुयोगद्वारों के आदि में 'णमो जिणाणं' इत्यादि रूप से मंगल किया है। यदि कहा जाय कि व्यवहारनय असत्य है— सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि उसमें व्यवहार का अनुसरण करने वाले शिष्यों की प्रवृत्ति देखी जाती है। अतः जो व्यवहारनय बहुत जीवों का अनुग्रह करने वाला है

१. धवल पु० १ पृ० ३३। २. धवल पु० १ पृ० ३४। ३. धवल पु० १ पृ० ३१। ४ धवल पु० १ पृ० ४१।

उसी का आश्रय करना चाहिये ऐसा अपने मन में निश्चय करके गौतम स्थविर ने चौवीस अनुयोगद्वारों के आदि में मंगल किया है ।[1]

यदि कहा जाय कि पुण्य-कर्म के बांधने के इच्छुक देशव्रतियों को मंगल करना युक्त है, किन्तु कर्मों के क्षय के इच्छुक मुनियों को मंगल करना युक्त नहीं है— तो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि पुण्य-बंध के कारणों के प्रति उन दोनों (मुनि व श्रावक) में कोई विशेषता नहीं है । अर्थात् पुण्य-बंध के कारण भूत कर्मों को जैसे देशव्रती श्रावक करता है वैसे ही मुनि भी करता है, मुनि के लिये उनका एकान्त निषेध नहीं है । यदि ऐसा न माना जाय तो जिस प्रकार मुनियों को मंगल के परित्याग के लिये कहा जा रहा है उसी प्रकार उनके (मुनि के) पुण्य-बंध के कारण सराग-संयम का भी निषेध होगा । यदि कहा जाय कि मुनियों के सराग-संयम के परित्याग का प्रसंग प्राप्त होता है तो होओ, सो भी बात नहीं है, क्योंकि मुनियों के सरागसंयम के परित्याग का प्रसंग प्राप्त होने से उनके मुक्तिगमन के अभाव का भी प्रसंग प्राप्त होता है ।[2]

यदि कहा जाय कि सराग-संयम गुण-श्रेणी निर्जरा का कारण है, क्योंकि उससे बंध की अपेक्षा कर्मों की निर्जरा असंख्यातगुणी होती है, अतः सराग-संयम में मुनियों की प्रवृत्ति का होना योग्य है, किन्तु अरहंत को नमस्कार रूप मंगलाचरण करना योग्य नहीं है— तो ऐसा भी निश्चय नहीं करना चाहिये, क्योंकि अरहंत नमस्कार भी तत्कालीन बंध की अपेक्षा असंख्यात-गुणी कर्म-निर्जरा का कारण है । इसलिये सरागसंयम के समान अरहंत-गुण-कीर्तन व नमस्कार में भी मुनियों की प्रवृत्ति प्राप्त होती है । कहा भी है—

> **अरहंतणमोक्कारं भावेण य जो करेदि पयडमदी ।**
> **सो सव्वदुक्खमोक्खं पावइ अचिरेण कालेण[3] ॥**

---

१. जयधवल पु० १ पृ० ८ ।　२. जयधवल पु० १ पृ० ८ ।
३. जयधवल पु० १ पृ० ९ ।

जो विवेकी जीव भावपूर्वक अरहंत को नमस्कार करता है वह अति-शीघ्र समस्त दुःखों से मुक्त हो जाता है।

यदि कोई कहे कि शुभ उपयोग से कर्मो का नाश होता है, यह बात असिद्ध है— सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि यदि शुभ और शुद्ध इन दोनों परिणामों से कर्मो का क्षय न माना जाय तो फिर कर्मो का क्षय हो नहीं सकता।[1]

निमित्त का कथन—

छद्दव्वणवपयत्थे सुयणाणाइच्च-दिप्पतेएण।
पस्संतु भव्वजीवा इय सुय-रविणो हवे उदयो[2]॥

भव्य जीव श्रुतज्ञान रूपी सूर्य के दीप्त तेज से छह द्रव्य और नव-पदार्थों को भली भांति जानें, इस निमित्त से श्रुतज्ञान रूपी सूर्य का उदय हुआ है अर्थात् आलापपद्धति नामा ग्रन्थ की रचना हुई है।

हेतु (फल) का कथन:—अज्ञान का विनाश, सम्यग्ज्ञान की उत्पत्ति, देव-मनुष्यादि के द्वारा निरन्तर पूजा का होना और प्रत्येक समय में असंख्यात-गुणित श्रेणीरूप से कर्मों की निर्जरा का होना साक्षात्प्रत्यक्ष फल है।

जियमोहिंधणजलणो अण्णाणतमंधयारदिणयरओ।
कम्ममलकलुसपुसओ जिणवयणमिवोवही सुहयो॥[3]

यह जिनागम जीव के मोहरूपी इन्धन को भस्म करने के लिये अग्नि के समान है, अज्ञानरूपी अन्धकार को नष्ट करने के लिए सूर्य के समान है, कर्म-मल अर्थात् द्रव्य-कर्म और कर्मकलुष अर्थात् भाव कर्म को मार्जन करने वाला समुद्र के समान है और परम सुभग है।

शब्दात्पदप्रसिद्धिः पदसिद्धेरर्थनिर्णयो भवति।
अर्थात्तत्त्वज्ञानं तत्वज्ञानात्परं श्रेयः॥[4]

शब्द से पद की सिद्धि होती है, पद की सिद्धि से उसके अर्थ का निर्णय

---

१. जयधवल पु० १ पृ० ६। २. धवल पु० १ पृ० ५५। ३. धवल पु० १ पृ० ५९। ४. धवल पु० १ पृ० १०।

होता है । अर्थ-निर्णय से तत्वज्ञान और तत्वज्ञान से परमकल्याण होता है ।

इस कथन से उन लोगों के मत का खण्डन हो जाता है जो शास्त्र को ज्ञान में निमित्त न मानकर यह कहते हैं कि शास्त्र से ज्ञान नहीं होता है ।

परिमाण की व्याख्या—अक्षर, पद आदि की अपेक्षा परिमाण संख्यात है और तद्वाच्य विषय की अपेक्षा परिमाण अनन्त है ।

नाम—इस शास्त्र का नाम आलापपद्धति है ।

कर्ता—अर्थकर्ता और ग्रन्थकर्ता के भेद से कर्ता दो प्रकार का है । श्री १००८ महावीर तीर्थंकर अर्थकर्ता हैं । श्री १०८ गौतम गणधर द्रव्य-श्रुत के कर्ता हैं । श्री गौतम स्वामी, लोहाचार्य और जम्बू स्वामी ये तीन अनुबद्ध केवली हुए । इनके पश्चात् परिपाटी क्रम से पांच श्रुतकेवली हुए । इसके पश्चात् ज्ञान हीन होता गया, किन्तु वह ज्ञान परम्परा से श्री १०८ देवसेन आचार्य को प्राप्त हुआ, जिन्होंने इस आलापपद्धति शास्त्र की रचना की है । इससे उस मत का खण्डन हो जाता है जो सर्वथा यह मानते हैं कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य की पर्याय का कर्ता नहीं हो सकता है ।

इस प्रकार मंगल, निमित्त, हेतु, परिमाण, नाम और कर्ता का व्याख्यान समाप्त हुआ ।

आलापपद्धतिर्वचनरचनाऽनुक्रमेण नयचक्रस्योपरि उच्यते ॥१॥

शब्दार्थ—(आलाप) शब्दोच्चारण अर्थात् बोलचाल । (पद्धति) रीति या ढंग । (नयचक्र) सम्यग्ज्ञान के अवयव रूप नय ताका समूह ।

सूत्रार्थ—वचनों की रचना के क्रम के अनुसार प्राकृतमय नयचक्र नामक शास्त्र के आधार पर से आलापपद्धति को (मैं देवसेनाचार्य) कहता हूं ।

अर्थात् इस आलापपद्धति शास्त्र की रचना प्राकृत-नयचक्र ग्रंथ के आधार पर हुई है ।

सा च किमर्थम् ? ॥२॥

सूत्रार्थ—इस आलापपद्धति ग्रथ की रचना किस लिये की गई है ?

द्रव्यलक्षणसिद्ध्यर्थम् स्वभावसिद्ध्यर्थंञ्च ॥३॥

सूत्रार्थ—द्रव्य के लक्षण की सिद्धि के लिये और पदार्थों के स्वभाव की सिद्धि के लिये इस ग्रंथ की रचना हुई है।

द्रव्याणि कानि ? ॥४॥

सूत्रार्थ—द्रव्य कौन हैं ?

जीवपुद्गलधर्माधर्माकाशकालद्रव्याणि ॥५॥

सूत्रार्थ—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये छह द्रव्य हैं।

विशेषार्थ—जीव द्रव्य उपयोगमयी अथवा चैतन्यमयी है। वह संसारी और मुक्त दो प्रकार का है। संसारी जीव त्रस और स्थावर के भेद से दो प्रकार के हैं।

स्पर्श, रस, गंध और वर्ण जिसमें पाये जावें वह पुद्गल द्रव्य है।

जो जीव और पुद्गल इन दो द्रव्यों को चलने में सहकारी कारण हो, जिसके विना जीव और पुद्गल की गति नहीं हो सकती, वह धर्म द्रव्य है। जैसे, मछलियों के चलने में जल सहकारी कारण होता है—जहां तक जल होता है वहीं तक मछलियों का गमन होता है। मछलियों में गमन की शक्ति होते हुए भी जल के अभाव में मछलियों का गमन नहीं होता है अर्थात् जल से आगे मछलियाँ पृथ्वी पर गमन नहीं कर सकती हैं। इसीलिये धर्म द्रव्य का लक्षण गतिहेतुत्व कहा गया है। जहां तक धर्म द्रव्य है, वहां तक ही लोकाकाश है। लोक और अलोक के विभाजन में धर्मद्रव्य कारण है। कहा भी है—

लोयालोयविभेयं गमणं ठाणं च जाण हेदूहिं।
जइ णहि ताणं हेऊ किह लोयालोयववहारे ॥१३५॥

[नयचक्र]

जो जीव और पुद्गल को ठहरने में सहकारी कारण हो वह अधर्म द्रव्य है। जैसे, पथिक को ठहरने में छाया सहकारी कारण है। इसके प्रदेश भी धर्म द्रव्य के समान हैं।

जो समस्त द्रव्यों को अवगाहन देवे वह आकाश द्रव्य है। क्षेत्र की अपेक्षा आकाश द्रव्य सब द्रव्यों से बड़ा है, सर्व-व्यापी है, इसलिए यह समस्त द्रव्यों को अवकाश देने में समर्थ है। अन्य द्रव्य भी परस्पर अवगाहन देते हैं, किन्तु सर्व-व्यापी नहीं होने से वे समस्त द्रव्यों को अवगाहन नहीं दे सकते, इसीलिये अवगाहनहेतुत्व आकाश द्रव्य का लक्षण कहा गया है।[1] धर्म-द्रव्य के अभाव के कारण अलोकाकाश में कोई द्रव्य नहीं जाता है। इसलिये वह किसी को अवगाहन नहीं देता है। फिर भी उसमें अवगाहन-दान की शक्ति है। इस प्रकार अलोकाकाश में भी अवगाहन-हेतुत्व लक्षण घटित हो जाता है। इससे, कार्य होने पर ही निमित्त कारण कहलाता है, इस सिद्धान्त का खण्डन हो जाता है। निमित्त अपने कारणपने की शक्ति से निमित्त कहलाता है।

जो द्रव्यों के वर्तन में सहकारी कारण हो वह कालद्रव्य है। काल के अभाव में पदार्थों का परिणमन नहीं होगा। परिणमन न हो तो द्रव्य व पर्याय भी न होगी। सर्व शून्य का प्रसंग आयेगा।[2]

द्रव्य का लक्षण—

सद्द्रव्यलक्षणम् ॥६॥

सूत्रार्थ—द्रव्य का लक्षण सत् है।

उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् ॥७॥[4]

सूत्रार्थ—जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त है वह सत् है :

विशेषार्थ—अन्तरंग और वहिरंग निमित्त के वश से जो नवीन अवस्था उत्पन्न होती है उसे उत्पाद कहते हैं। जैसे, मिट्टी के पिंड की घट पर्याय। पूर्व अवस्था के नाश को व्यय कहते हैं। जैसे, घट की उत्पत्ति होने पर पिण्ड आकृति का व्यय। अनादिकालीन पारिणामिक स्वभाव है, उसका व्यय और

---

१ सर्वार्थसिद्धि अ० ५। २. 'कालाभावे न भावानां परिणामस्तदंतरात्। न द्रव्यं नापि पर्य्यायः सर्वभावः प्रसज्यते॥' (नियमसार गाथा ३२ की टीका में उद्धृत)। ३ तत्वार्थ सूत्र अ० ५ सूत्र २९। ४. तत्वार्थ सूत्र अ० ५ सूत्र ३०।

उत्पाद नहीं होता किन्तु 'ध्रुवरूप से' स्थिर रहता है इसलिये उसे ध्रुव कहते हैं। जैसे, पिण्ड और घट अवस्था में मिट्टी का अन्वय बना रहता है। (सर्वार्थसिद्धि)।

॥ इति द्रव्याधिकारः ॥

गुणाधिकार

गुणों का कथन प्रारम्भ होता है।

लक्षणानि कानि ? ॥८॥

सूत्रार्थ—द्रव्यों के लक्षण (गुण) कौन-कौन से हैं ?

विशेषार्थ—लक्षण, शक्ति, धर्म, स्वभाव, गुण और विशेष ये सब एक 'गुण रूप' अर्थ के वाचक हैं।[1]

"व्यतिकीर्ण वस्तुव्यावृत्तिहेतुर्लक्षणम्"[2]। अर्थात्—मिली हुई अनेक वस्तुओं में से किसी एक वस्तु को पृथक् करने वाले हेतु को लक्षण कहते हैं।

अस्तित्वं, वस्तुत्वं, द्रव्यत्वं, प्रमेयत्वं, अगुरुलघुत्वं, प्रदेशत्वं, चेतनत्वमचेतनत्वं, मूर्तत्वममूर्तत्वं, द्रव्याणां दश सामान्यगुणाः ॥९॥

सूत्रार्थ—अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व, प्रदेशत्व, चेतनत्व, अचेतनत्व, मूर्तत्व, और अमूर्तत्व ये द्रव्यों के दश सामान्य गुण हैं।

विशेषार्थ—प्राकृत-नय चक्र में भी कहा है—

दव्वाणं सहभूदा सामण्णविसेसदो गुणा णेया।
सव्वेसिं सामण्णा दह भणिया सोलस विसेसा ॥११॥
अत्थित्तं वत्थुत्तं दव्वत्तं पमेयत्त अगुरुलहुगुत्तं।
पदेसत्तं चेदणिदरं मुत्तममुत्तं वियाणेह ॥१२॥

---

१. शक्तिर्लक्षणविशेषो धर्मो रूपं गुण-स्वभावश्च। प्रकृतिः शीलं चाकृतिरेकार्थ वाचकाः शब्दः ॥ २. न्यायदीपिका।

जो सदैव द्रव्यों के साथ रहें अर्थात् जो सहभू हों उन्हें गुण कहते हैं। अथवा, एक द्रव्य को दूसरे द्रव्य से पृथक् करे, उसे विशेष गुण कहते हैं। (सूत्र ९२–९३)

उन गुणों के सामान्य तथा विशेष इस प्रकार दो भेद हैं। सामान्य गुण दश और विशेष गुण सोलह होते हैं। अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व, प्रदेशत्व, चेतनत्व, अचेतनत्व; मूर्तत्व और अमूर्तत्व ये दस सामान्य गुण जानने चाहियें। यद्यपि ग्रन्थकार स्वयं इन गुणों का स्वरूप आगे सूत्र ९४–१०४ में कहेंगे तथापि पाठकों की सुविधा के लिये उनका स्वरूप यहां पर भी दिया जाता है।

जिस द्रव्य को जो स्वभाव प्राप्त है, उस स्वभाव से च्युत न होना अस्तित्व गुण है। (सूत्र १०६)

सामान्य-विशेषात्मक वस्तु होती है। उस वस्तु का जो भाव वह वस्तुत्व है। (सूत्र ९५)

जो अपने प्रदेश-समूह के द्वारा अखण्डपने से अपने स्वभाव व विभाव पर्यायों को प्राप्त होता है, होवेगा, हो चुका है, वह द्रव्य है। उस द्रव्य का जो भाव, वह द्रव्यत्व है। अथवा, वस्तु के सामान्यपने को द्रव्यत्व कहते हैं, क्योंकि वह सामान्य ही विशेषों को प्राप्त होता है। (सूत्र ९६)

जिस शक्ति के निमित्त से द्रव्य किसी भी प्रमाण (ज्ञान) का विषय अवश्य होता है वह प्रमेयत्व गुण है। (सूत्र ९८)

जो सूक्ष्म है, वचन के अगोचर है, प्रति समय परिणमन-शील है और आगम प्रमाण से जाना जाता है, वह अगुरुलघु गुण है। (सूत्र ९९)

संसार अवस्था में कर्म-परतन्त्र जीव में स्वाभाविक अगुरुलघु गुण का अभाव है।[1]

---

१. 'अगुरुवलहुअत्तं णाम जीवस्स साहावियमत्थि चे ण, संसारावत्थाए कम्मपरतंतम्मि तस्साभावा।' (धवल पु० ६ पृ० ५८)

किन्तु कर्मोदय कृत अगुरुलघु से अत्यन्त निवृत्त हो जाने पर स्वाभाविक अगुरुलघु गुण का आविर्भाव हो जाता है।[1]

जिस गुण के निमित्त से द्रव्य क्षेत्रपने को प्राप्त हो वह प्रदेशत्व गुण है। एक अविभागी पुद्गल परमाणु के द्वारा व्याप्त क्षेत्र को प्रदेश कहते हैं।

(सूत्र १००)

अनुभूति का नाम चेतना है। जिस शक्ति के निमित्त से स्व पर की अनुभूति अर्थात् प्रतिभासकता होती है वह चेतना गुण है। (सूत्र १०१)

जड़पने को अचेतन कहते हैं, अननुभवन सो अचेतनता है। चेतना का अभाव सो अचेतनत्व है। (सूत्र १०२)

रूपादिपने को अर्थात् स्पर्श-रस-गन्ध और वर्णपने को मूर्तत्व कहते हैं।

(सूत्र १०३)

स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण इनसे रहित-पना अमूर्तत्व है। (सूत्र १०४)

ये गुण एक से अधिक द्रव्यों में पाये जाते हैं इसलिये ये सामान्य गुण हैं। चेतनत्व भी सर्व जीवों में पाया जाता है इसलिये सामान्य गुण है। मूर्तत्व भी सर्व पुद्गलों में पाया जाता है इसलिये सामान्य गुण है। जीव के अतिरिक्त अन्य पांच द्रव्य अचेतन हैं और जीव, धर्म, अधर्म, आकाश और काल द्रव्य अमूर्तिक है, इसलिये अचेतनत्व और अमूर्तत्व भी सामान्य (साधारण) गुण हैं।[2]

प्रश्न—चेतनत्व और मूर्तत्व सामान्य गुण कैसे हैं ?

उत्तर—जीव और पुद्गल यदि एक एक होते तो शंका ठीक थी। किन्तु जीव भी अनन्त हैं और पुद्गल भी अनन्त हैं। अतः स्वजाति की अपेक्षा चेतनत्व व मूर्तत्व सामान्य गुण हैं।

---

१. 'अनादिकर्मनोकर्मसम्बन्धानां कर्मोदयकृतमगुरुलघुत्वम्, तदत्यन्तविनिवृत्तौ तु स्वाभाविकमाविर्भवति।' (रा० वा० ८/११)

२. चेदणमचेदणा तह मुत्तममुत्तावि चरिन जे भणिया।
सामण्ण सजाईणं ते वि विसेसा विजाईणं ॥१६॥ [प्राकृत नयचक्र]

प्रत्येकमष्टौ सर्वेषाम् ॥१०॥

सूत्रार्थ—इन दस सामान्य गुणों में से प्रत्येक द्रव्य में आठ-आठ गुण हैं और दो-दो गुण नहीं हैं।

जीव द्रव्य में अचेतनत्व और मूर्तत्व ये दो गुण नहीं हैं। पुद्गल द्रव्य में चेतनत्व और अमूर्तत्व ये दो गुण नहीं हैं। धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य और कालद्रव्य इन चार द्रव्यों में चेतनत्व और मूर्तत्व ये दो गुण नहीं हैं। इस प्रकार दो-दो गुणों को छोड़कर प्रत्येक द्रव्य में आठ-आठ गुण होते हैं।

जीव में अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व, प्रदेशत्व, चेतनत्व और अमूर्तत्व ये आठ गुण होते हैं।

पुद्गल द्रव्य में अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व, प्रदेशत्व, अचेतनत्व, मूर्तत्व ये आठ गुण होते हैं।

धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य, कालद्रव्य इन चार द्रव्यों में अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व, प्रदेशत्व, अचेतनत्व और अमूर्तत्व ये आठ गुण होते हैं।

अब द्रव्यों के विशेष गुणों को बतलाते हैं।

ज्ञानदर्शनसुखवीर्याणि स्पर्शरसगन्धवर्णाः गतिहेतुत्वं स्थितिहेतुत्वमवगाहहेतुत्वं वर्तनाहेतुत्वं चेतनत्वमचेतनत्वं मूर्तत्वममूर्तत्वं द्रव्याणां षोडश विशेषगुणाः ॥११॥

सूत्रार्थ—ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, गतिहेतुत्व, स्थितिहेतुत्व, अवगाहनहेतुत्व, वर्तनाहेतुत्व, चेतनत्व, अचेतनत्व, मूर्तत्व, अमूर्तत्व ये द्रव्यों के सोलह विशेष गुण हैं।

विशेषार्थ—जिस शक्ति के द्वारा आत्मा पदार्थों को साकार जानता है, सो ज्ञान है।

भूतार्थ का प्रकाश करने वाला ज्ञान होता है। अथवा सद्भाव के निश्चय करने वाले धर्म को ज्ञान कहते हैं।[1]

---

१. 'भूतार्थप्रकाशकं ज्ञानम्। अथवा सद्भावविनिश्चयोपलम्भकं ज्ञानम्।' (धवल पु० १ पृ० १४२ व १४३)

जाणइ तिकालसहिए दव्वगुणे पज्जए य बहुभेए।
पच्चक्खं च परोक्खं अणेण णाणे त्ति णं वेंति॥
॥२९९॥ [गो० जी०]

जिसके द्वारा जीव त्रिकाल-विषयक समस्त द्रव्य, उनके गुण और उनकी अनेक प्रकार की पर्यायों को प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से जाने सो ज्ञान है। बहिर्मुख चित् प्रकाश को ज्ञान माना है।[1]

अन्तर्मुख चित् (चैतन्य) दर्शन है।[2] जो आलोकन करता है, वह आलोक या आत्मा है तथा वर्तन अर्थात् व्यापार सो वृत्ति है। आलोकन अर्थात् आत्मा की वृत्ति (व्यापार) सो आलोकन-वृत्ति या स्वसंवेदन है और वही दर्शन है। यहां पर 'दर्शन' शब्द से लक्ष्य का निर्देश किया है। अथवा प्रकाश-वृत्ति दर्शन है। 'प्रकाश' ज्ञान है। उस प्रकाश (ज्ञान) के लिए जो आत्मा का व्यापार सो प्रकाश-वृत्ति है और वही दर्शन है। विषय और विषयी के योग्य देश में होने की पूर्वावस्था दर्शन है।[3]

जं सामण्णं गहणं, भावाणं णेव कट्टु आयारं।
अविसेसिऊण अत्थे दंसणमिदि भण्णदे समये॥४८२॥ गो.जी.

सामान्य विशेषात्मक बाह्य पदार्थों को अलग-अलग भेदरूप से ग्रहण नहीं करके जो सामान्य ग्रहण (आत्मग्रहण) अर्थात् स्व-रूप (निजरूप) मात्र का अवभासन होता है उसको परमागम में दर्शन कहा है। अथवा, सामान्य अर्थात् आत्मा के ग्रहण को दर्शन कहते है।[4]

---

१. धवल पु० १ पृ० १४५। २. धवल पु० १ पृ० १४५। ३ 'आलोकत इत्यालोकनमात्मा, वर्तनं वृत्तिः, आलोकनस्य वृत्तिरालोकनवृत्तिः स्वसंवेदनं, तद्दर्शनमिति लक्ष्यनिर्देशः। प्रकाशवृत्तिर्वा दर्शनम्। प्रकाशो ज्ञानम्, तदर्थमात्मनो वृत्तिः प्रकाशवृत्तिस्तद्दर्शनम्। विषयविषयिसंपातात् पूर्वावस्था दर्शनमित्यर्थः।' (धवल पु० १ पृ० १४८)। ४. "भावानां सामान्यविशेषात्मकबाह्यपदार्थानां आकारं भेदग्रहणमकृत्वा यत् सामान्यग्रहणं स्वरूप-मात्रावभासनं तद्दर्शनमिति परमागमे भण्यते।" (जी० प्र० टी०); सामान्यग्रहणमात्मग्रहणं तद्दर्शनम्। (बृ० द्र० स०)।

जो स्वाभाविक भावों के आवरण के विनाश होने से आत्मीक शान्तरस अथवा आनन्द उत्पन्न होता है वह सुख है।[1] सुख का लक्षण अनाकुलता है।[2] स्वभाव प्रतिघात का अभाव सो सुख है।[3] मोहनीय कर्म के उदय से इच्छारूप आकुलता उत्पन्न होती है सो ही दुख है। मोहनीय कर्म के नाश होने से आकुलता का भी अभाव हो जाता है और आत्मीक परम-आनन्द उत्पन्न होता है, वही सुख है।[4]

वीर्य का अर्थ शक्ति है।[5] वीर्य, बल और शुक्र ये सब एकार्थक शब्द हैं।[6] जीव की शक्ति को वीर्य कहते हैं। आत्मा में अनन्त वीर्य है किन्तु अनादि काल से उस अनन्त शक्ति को वीर्यान्तराय कर्म ने घात रखा है। उसके क्षयोपशम से कुछ वीर्य प्रकट होता है।

जो स्पर्श किया जाता है वह स्पर्श है और जो स्वाद को प्राप्त होता है वह रस है। जो सूंघा जाता है वह गन्ध है। जो देखा जाता है वह वर्ण है।[7] कोमल, कठोर, हलका, भारी, ठंडा, गर्म, स्निग्ध, रूक्ष के भेद से स्पर्श आठ प्रकार का है। तीता, कडुआ, खट्टा, मीठा, और कसैला के भेद से रस पांच प्रकार का है। सुगन्ध और दुर्गन्ध के भेद से दो प्रकार की गन्ध है। काला, नीला, पीला, सफेद और लाल के भेद से वर्ण पांच प्रकार का है। ये स्पर्श आदि के मूल भेद हैं। वैसे प्रत्येक के संख्यात असंख्यात और अनन्त भेद होते हैं।[8]

जीव और पुद्गलों को गमन में सहकारी होना गति-हेतुत्व है।

जीव और पुद्गलों को ठहरने में सहकारी होना स्थिति-हेतुत्व है।

---

१. 'स्वभावप्रतिकूल्याभावहेतुकं सौख्यम्।' (पंचास्तिकाय गा० १६३ टीका)। २. 'अनाकुलत्वैकलक्षणं सौख्यम्।' (प्रवचनसार गा० ५९ टीका)। ३. 'स्वभावप्रतिघाताभाव-हेतुकं हि सौख्यम्।' (प्रवचनसार गा० ६१ टीका) ४. 'सौख्यं च मोहक्षयात्।' (पद्मनन्दि ८।६; तत्त्वार्थ वृत्ति ९।४४)। ५ 'वीर्यः शक्तिरित्यर्थः।'' (धवल पु० १३ पृ० ३९०)। ६. 'वीर्यं बलं शुक्रमित्येकोर्थः।' (धवल पु० ६ पृ० ७८)। ७. सर्वार्थसिद्धि २/२०। ८. सर्वार्थसिद्धि ५/२३।

समस्त द्रव्यों को अवकाश देना अवगाहन-हेतुत्व है।

समस्त द्रव्यों के वर्तन में सहकारी होना वर्तना-हेतुत्व है।

चेतनत्व, अचेतनत्व, मूर्तत्व, अमूर्तत्व का स्वरूप सूत्र ९ की टीका में कहा जा चुका है। चेतनत्व सर्व जीवों में पाया जाता है इसलिये इसको सामान्य गुणों में कहा है। किन्तु पुद्गल आदि द्रव्यों में नहीं पाया जाता इसलिये इसे विशेष गुणों में कहा है। अचेतनत्व पुद्गल आदि पाँच द्रव्यों में पाया जाता है इसलिये सामान्य गुणों में कहा है, किन्तु जीव द्रव्य में नहीं पाया जाता इसलिये विशेष गुणों में भी कहा है। मूर्तत्व सर्व पुद्गल द्रव्यों में पाया जाया है इसलिये सूत्र ९ में सामान्य गुणों में कहा है, किन्तु जीव, धर्म, अधर्म, आकाश और काल द्रव्यों में नहीं पाया जाता है इसलिये विशेष गुण कहा है। इसी प्रकार अमूर्तत्व गुण जीव, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन द्रव्यों में पाया जाता है इसलिये सूत्र ९ में सामान्य गुण कहा है किन्तु पुद्गल द्रव्य में नहीं पाया जाता इसलिए विशेष गुण कहा है।[1] (देखो सूत्र १४)। प्राकृत नयचक्र में इन विशेष गुणों का कथन निम्न प्रकार है :—

णाणं दंसण सुह सत्ति रूवरसगंधफास गमणठिदी।
वट्टणगाहणहेउं मुत्तममुत्तं खु चेदणिदरं च ॥१३॥
अट्ठचदु णाणदंसणभेया सत्ति सुहस्स इह दो दो।
वण्णरस पंच गंधा दो फासा अट्ठ णायव्वा ॥१४॥

आठ प्रकार का ज्ञान—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, केवलज्ञान, कुमतिज्ञान, कुश्रुतज्ञान, विभंगज्ञान। चार प्रकार का दर्शन—चक्षुर्दर्शन, अचक्षुर्दर्शन, अवधिदर्शन, केवलदर्शन।

'क्षायोपशमिकी शक्तिः क्षायिकी चेति शक्तेर्द्वौ भेदौ।'[2]

---

१. चेदणमचेदणा तह मुत्तममुत्तावि चरिम जे भणिय। सामण्ण सजाईणं ते वि विसेसा विजाईणं ।१६। [प्राकृत नयचक्र पृ० २५]

२. प्राकृत नयचक्र पृ० २४।

अर्थात्—शक्ति के दो भेद हैं—क्षायोपशमिकी शक्ति और क्षायिकी शक्ति।

सुख दो प्रकार का—इन्द्रिय जनित और अतीन्द्रिय सुख।[1]

जीव और पुद्गल में पाये जाने वाले विशेष गुणों की संख्या :—

प्रत्येकं जीव पुद्गलयोः षट् ॥१२॥

सूत्रार्थ—सोलह प्रकार के विशेष गुणों में से जीव और पुद्गल में छः-छः विशेष गुण पाये जाते हैं।

विशेषार्थ—जीव द्रव्य में ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, चेतनत्व और अमूर्तत्व ये छः विशेष गुण पाये जाते हैं।

पुद्गल द्रव्य में स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, मूर्तत्व, और अचेतनत्व ये छः गुण पाये जाते हैं।

धर्मादिक चार द्रव्यों में पाये जाने वाले विशेष गुणों की संख्या:—

इतरेषां (धर्माधर्माकाशकालानां) प्रत्येकं त्रयो गुणाः ॥१३॥

सूत्रार्थ—धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य और कालद्रव्य इन चारों द्रव्यों में तीन तीन विशेष गुण पाये जाते हैं।

विशेषार्थ—धर्मद्रव्य में गतिहेतुत्व, अमूर्तत्व और अचेतनत्व ये तीन विशेष गुण पाये जाते हैं।

अधर्म द्रव्य में स्थितिहेतुत्व, अमूर्तत्व और अचेतनत्व ये तीन विशेष गुण पाये जाते हैं।

आकाश द्रव्य में अवगाहनहेतुत्व, अमूर्तत्व और अचेतनत्व ये तीन विशेष गुण पाये जाते हैं।

कालद्रव्य में वर्तनाहेतुत्व, अमूर्तत्व तथा अचेतनत्व ये तीन विशेष गुण हैं।

आगे अचेतनत्व आदि चार गुणों को सामान्य गुणों तथा विशेष गुणों में क्यों कहा है, इस शङ्का का परिहार करते हैं :—

१. 'इन्द्रियजमतीन्द्रियं चेति सुखस्य द्वौ भेदौ।' [प्रा० नयचक्र पृ० २४]

अन्तस्थाश्चत्वारो गुणाः स्वजात्यपेक्षया सामान्यगुणा विजात्यपेक्षया त एव विशेषगुणाः ।।१४।।

सूत्रार्थ—अन्त के चेतनत्व, अचेतनत्व, मूर्तत्व और अमूर्तत्व ये चार गुण स्वजाति की अपेक्षा से सामान्य गुण तथा विजाति की अपेक्षा से विशेष गुण कहे जाते हैं।

सूत्र ९, १० व ११ की टीका में इसका विशेष कथन है।

।। इस प्रकार गुणाधिकार समाप्त हुआ ।।



पर्याय अधिकार

पर्याय का लक्षण और उसके भेद—

गुणविकाराः पर्यायास्ते द्वेधा अर्थव्यंजनपर्यायभेदात् ।।१५।।

सूत्रार्थ—गुणों के विकार को पर्याय कहते हैं। वे पर्यायें दो प्रकार की हैं—(१) अर्थ पर्याय, (२) व्यंजन पर्याय।

विशेषार्थ—परिणाम अर्थात् परिणमन को विकार कहते हैं। कहा भी है—

'परिणाम अह वियारं ताणं तं पज्जयं दुविहं ।।'

[नयचक्र गाथा १७]

अर्थात् परिणाम या विकार को पर्याय कहते हैं और वें पर्यायें दो प्रकार की हैं।

'गुणद्वारेणान्वयरूपायाः एकत्वप्रतिपत्तेर्निबंधनं कारणभूतं गुण-पर्यायः ।।' [पंचास्तिकाय गाथा १६ टीका]

अर्थात् गुणों के द्वारा अन्वयरूप एकता के ज्ञान का कारण जो पर्याय हो, वह गुणपर्याय है। जैसे, वर्णगुण की हरी पीली आदि पर्याय होती हैं, हरएक पर्याय में वर्णगुण की एकता का ज्ञान है, इससे यह गुण पर्याय है।

अर्थ पर्याय सूक्ष्म होती है, क्षण क्षण में नाश होने वाली तथा वचनों के अगोचर होती है।

व्यंजन पर्याय स्थूल होती है, चिरकाल तक रहती है, वचन के गोचर तथा छद्मस्थों की दृष्टि का विषय भी होती है।

सुहुमा अवायविसया खणखइणो अत्थपज्जया दिट्ठा।
वंजणपज्जाया पुण थूला गिरगोयरा चिरविवत्था ॥२५॥

[वसुनन्दि श्रावकाचार]

अर्थ—पर्याय के दो भेद हैं— अर्थ पर्याय और व्यंजन पर्याय। इनमें अर्थपर्याय सूक्ष्म है, ज्ञान का विषय है, शब्दों से नहीं कही जा सकती और क्षण क्षण में नाश होती रहती है। किन्तु व्यंजन पर्याय स्थूल है, शब्दगोचर है अर्थात् शब्दों द्वारा कही जा सकती है और चिरस्थायी है।

'तत्रार्थपर्यायाः सूक्ष्माः क्षणक्षयिणस्तथाऽवाग्गोचरा विषया भवन्ति। व्यजनपर्यायाः पुनः स्थूलाश्चिरकालस्थायिनो वाग्गोचराश्छद्मस्थदृष्टिविषयाश्च भवन्ति। समयवर्तिनोऽर्थपर्याया भण्यंते चिरकालस्थायिनो व्यंजनपर्याया भण्यंते इति कालकृतभेदः।'

[पंचास्तिकाय गाथा १६ टीका]

अर्थ—अर्थ पर्याय सूक्ष्म है, प्रतिक्षण नाश होने वाली है तथा वचन के अगोचर है। और व्यंजन पर्याय स्थूल होती है, चिरकाल तक रहने वाली, वचनगोचर व अल्पज्ञानी को दृष्टिगोचर भी होती है। अर्थ पर्याय और व्यंजन पर्यायों में कालकृत भेद है क्योंकि समयवर्ती अर्थ पर्याय है और चिरकाल स्थायी व्यंजन पर्याय है।

ज्ञानार्णव में भी कहा है—

मूर्तो व्यंजनपर्यायो वाग्गम्योऽनश्वरः स्थिरः।
सूक्ष्मः प्रतिक्षणध्वंसी पर्यायश्चार्थसंज्ञिकः ॥६/४५॥

अर्थ—व्यंजनपर्याय मूर्तिक है, वचन के गोचर है, अनश्वर है, स्थिर है और अर्थपर्याय सूक्ष्म है, क्षणविध्वंसी है।

द्रव्य-पर्यायें और गुण-पर्यायें दोनों ही अर्थपर्याय और व्यंजनपर्याय के भेद से दो-दो प्रकार की होती हैं। इन पर्यायों का कथन सूत्रकार स्वयं करेंगे।

अर्थ-पर्याय के भेद प्रतिभेदों का कथन किया जाता है—

अर्थपर्यायास्ते द्वेधा स्वभावविभावपर्यायभेदात् ।।१६।।

सूत्रार्थ—अर्थपर्याय दो प्रकार की है—(१) स्वभावार्थपर्याय (२) विभावार्थपर्याय ।

विशेषार्थ—स्वभावपर्याय सर्वद्रव्यों में होती है किन्तु विभावपर्याय जीव और पुद्गल इन दो द्रव्यों में ही होती है, क्योंकि ये दो द्रव्य ही वंध अवस्था को प्राप्त होते हैं।

सब्भावं खु विहावं दव्वाणं पज्जयं जिणुद्दिट्ठं ।
सव्वेसिं च सहावं विब्भावं जीवपुद्गलाणं च ।।१८।।
दव्वगुणाण सहावा पज्जायं तह विहावदो णेयं ।
जीवे जीवसहावा ते वि विहावा हु कम्मकदा ।।१९।।
पुग्गलदव्वे जो पुण विब्भाओ कालपेरिओ होदि ।
सो णिद्धरुक्खसहिदो वंधो खलु होइ तस्सेव ।।२०।।
[नयचक्र]

अर्थात्—जिनेन्द्र भगवान ने द्रव्यों की स्वभावपर्याय और विभावपर्याय कही है। सर्वद्रव्यों में स्वभाव पर्यायें होती हैं, किन्तु जीव और पुद्गलों में विभावपर्यायें भी होती हैं। द्रव्य और गुणो मे स्वभावपर्याय भी होती है और विभावपर्याय भी होती है। जीव में जीवत्वरूप स्वभावपर्यायें होती हैं और कर्मकृत विभावपर्यायें होती हैं। पुद्गल में विभावपर्यायें कालप्रेरित होती है जो स्निग्ध व रूक्षगुण के कारण बंधरूप होती है।

'कम्मोपाधिविवज्जिय पज्जाया ते सहावमिदि भणिदा ।।'
[नियमसार गाथा १५]

अर्थात्—जो पर्यायें कर्मोपाधि से रहित हैं वे स्वभावपर्यायें हैं।

अर्थपर्याय का कथन—

अगुरुलघुविकाराः स्वभावार्थपर्यायास्ते द्वादशधा षड्वृद्धिरूपाः षड्ढानिरूपाः; अनन्तभागवृद्धिः असंख्यातभागवृद्धिः,

संख्यातभागवृद्धिः, संख्यातगुणवृद्धिः, असंख्यातगुणवृद्धिः, अनन्तगुणवृद्धिः, इति षड्वृद्धिः; तथा अनन्तभागहानिः, असंख्यातभागहानिः, संख्यातभागहानिः, संख्यातगुणहानिः, असंख्यातगुणहानिः, अनन्तगुणहानिः, इति षड्हानिः। एवं षट्वृद्धिषड्ढानिरूपा ज्ञेयाः ॥१७॥

सूत्रार्थ—अगुरुलघुगुण का परिणमन स्वाभाविक अर्थपर्यायें हैं। वे पर्यायें बारह प्रकार की है; छः वृद्धिरूप और छः हानिरूप। अनन्तभाग वृद्धि, असंख्यातभाग वृद्धि, संख्यातभाग वृद्धि, संख्यातगुण वृद्धि, असंख्यातगुण वृद्धि, अनन्तगुण वृद्धि, ये छः वृद्धिरूप पर्यायें हैं। अनन्तभाग हानि, असंख्यातभाग हानि, संख्यातभाग हानि, संख्यातगुण हानि, असंख्यातगुण हानि, अनन्तगुण हानि, ये छः हानिरूप पर्यायें हैं। इस प्रकार छः वृद्धिरूप और छः हानिरूप पर्यायें जाननी चाहियें।

विशेषार्थ—प्रत्येक द्रव्य में आगमप्रमाण से सिद्ध अनन्त अविभाग-प्रतिच्छेद वाला अगुरुलघुगुण स्वीकार किया गया है। जिसका छः-स्थान-पतित वृद्धि और हानि के द्वारा वर्तन होता रहता है। अतः इन धर्मादि द्रव्यों का उत्पाद-व्यय स्वभाव से होता रहता है।[1]

प्राकृत नयचक्र में स्वभावपर्याय का कथन निम्न प्रकार किया गया है—

अगुरुलहुगा अणंता, समयं समयं समुब्भवा जे वि।
दव्वाणं ते भणिया, सहावगुणपज्जया जाण ॥२२॥

अर्थात् अगुरुलघुगुण अनन्त अविभाग प्रतिच्छेद वाला है, उस अगुरुलघु-गुण में प्रति समय पर्यायें उत्पन्न होती रहती हैं। अगुरुलघुगुण की पर्यायों

---

१. "स्वनिमित्तस्तावदनन्तानामगुरुलघुगुणानामागमप्रामाण्यादभ्युपगम्य-मानानां षट्स्थानपतितया वृद्धया हान्या च प्रवर्तमानानां स्वभावादेतेषामु-त्पादो व्ययश्च।" (सर्वार्थसिद्धि ५/७)

को शुद्ध द्रव्यों की स्वभाव पर्यायें जाननी चाहियें।

प्रत्येक शुद्ध द्रव्य में अनन्त गुण होते हैं। उन अनन्त गुणों में एक अगुरुलघु गुण भी होता है जिसमें अनन्त अविभाग-प्रतिच्छेद होते हैं। उस अगुरुलघुगुण में ही नियत क्रम से अविभाग-प्रतिच्छेदों की ६ प्रकार की वृद्धि और ६ प्रकार की हानि रूप प्रति समय परिणमन होता रहता है। यह प्रति-समय का परिणमन ही शुद्ध द्रव्यों की स्वभाव पर्यायें हैं।

श्री पंचास्तिकाय गाथा १६ की टीका में श्री १०८ जयसेन आचार्य ने भी कहा है—

"स्वभावगुणपर्याया अगुरुलघुकगुणषट्हानिवृद्धिरूपाः सर्वद्रव्य-साधारणाः।"

'अगुरुलघुगुण षट्हानि षट्वृद्धि रूप सर्व द्रव्यों में साधारण स्वभाव गुण पर्याय है।' इस ही ग्रंथ में अगुरुलघु गुण का स्वरूप निम्न प्रकार बतलाया गया है—

सूक्ष्मा वागगोचराः प्रतिक्षणं वर्तमान आगमप्रमाणादभ्युपगम्या अगुरुलघुगुणाः। सूक्ष्मं जिनोदितंतत्त्वं, हेतुभिर्नैव हन्यते। आज्ञासिद्धं तु तद्ग्राह्यं, नान्यथावादिनो जिनाः॥

अर्थ—जो सूक्ष्म, वचन के अगोचर और प्रति समय में परिणमनशील अगुरुलघु नाम के गुण हैं, उन्हें आगमप्रमाण से स्वीकार करना चाहिये। जिनेन्द्र भगवान के कहे हुए जो सूक्ष्म तत्व हैं वे हेतुओं अर्थात् तर्क के द्वारा खण्डित नहीं हो सकते इसलिये जो सूक्ष्म तत्व हैं वे आजा (आगम) से सिद्ध हैं, अतः उनको ग्रहण करना चाहिये, क्योंकि जिनेन्द्र भगवान अन्यथावादी नहीं होते हैं। अर्थात् जिस प्रकार से कथन किया है उसी प्रकार से उन्होंने जाना है। अतः वैसा ही पदार्थ है।

यद्यपि अगुरुलघुगुण सामान्य गुण है, सर्व द्रव्यों में पाया जाता है तथापि संसार अवस्था में कर्म पर-तन्त्र जीवों में उस स्वाभाविक अगुरुलघु-गुण का अभाव है। यदि कहा जाय कि स्वभाव का विनाश मानने पर जीव द्रव्य का विनाश प्राप्त होता है, क्योंकि लक्षण के विनाश होने पर लक्ष्य का

विनाश होता है, ऐसा न्याय है, सो भी बात नहीं है अर्थात् अगुरुलघुगुण के विनाश होने पर भी जीव का विनाश नहीं होता है, क्योंकि ज्ञान और दर्शन को छोड़कर अगुरुलघुत्व जीव का लक्षण नहीं है, चूंकि वह आकाश आदि अन्य द्रव्यों में भी पाया जाता है।[1] अनादि काल से कर्म नोकर्म से बंधे हुए जीवों के कर्मोदय-कृत अगुरुलघुत्व है किन्तु मुक्त जीवों के कर्म नोकर्म की अत्यन्त निवृत्ति हो जाने पर स्वाभाविक अगुरुलघुगुण का आविर्भाव होता है।[2]

छः वृद्धि व हानि में अनन्त का प्रमाण सम्पूर्ण जीव राशि, असंख्यात का प्रमाण असंख्यात लोक और संख्यात का प्रमाण उत्कृष्ट संख्यात जानना चाहिये।[3]

मान लो अगुरुलघु गुण के अविभाग-प्रतिच्छेदों का प्रमाण १२००० है और संख्यात का प्रमाण ३, असंख्यात का प्रमाण ४, अनन्त का प्रमाण ५ है। १२००० को ५ का भाग देने पर लब्ध २४०० प्राप्त होता है जो १२००० का अनन्तवां भाग है। इस अनन्तवें भाग रूप २४०० को १२००० में जोड़ने पर १४४०० अनन्त भाग वृद्धि प्राप्त होती है। १२००० को असंख्यात रूप ४ का भाग देने पर ३००० प्राप्त होता है जो असंख्यातवां भाग है उस असंख्यातवें भाग रूप ३००० को १२००० में जोड़ने पर (१२०००+३०००)=१५००० प्राप्त होता है जो असंख्यातवें भाग वृद्धि रूप है। १२००० को संख्यात रूप ३ का भाग देने पर ४००० प्राप्त होता है जो संख्यातवां भाग है। इस संख्यातवें भाग रूप ४००० को १२००० में जोड़ने

१. 'संसारावत्थाए कम्मपरतंतम्मि तस्साभावा ण च सहावविणासे जीवस्स विणासो, लक्खणविणासे लाक्खविणासस्स णाइपत्तादो। ण च णाण-दंसणे मुच्चा जीवस्स मगुरुलहुत्तं लक्खणं, तस्स आयासादीसु वि उवलंभादो।' (धवल पु० ६ पृ० ५८)। २. 'मुक्त जीवानां कथमिति चेत्? अनादिकर्मनोकर्मसम्बन्धानां कर्मोदयकृतमगुरुलघुत्वम्, तदत्यन्त विनिवृत्तौ तु स्वभाविकमाविर्भवति।' (राजवार्तिक अ० ८ सूत्र ११ वार्तिक १२)
३. धवल पु० १२ पृ० १५१–१५७।

पर १६००० प्राप्त होता है जो संख्यातवें भाग वृद्धि रूप है। १२००० को संख्यातरूप ३ से गुणा करने पर ३६००० संख्यातगुण वृद्धि प्राप्त होती है। १२००० को असंख्यात रूप ४ से गुणा करने पर ४८००० असंख्यातगुण वृद्धि प्राप्त होती है। १२००० को अनन्तरूप ५ से गुणा करने पर ६०००० अनन्तगुण वृद्धि प्राप्त होती है। ये छः वृद्धि है।

१२००० को अनन्तरूप ५ का भाग देने पर २४०० प्राप्त होता है जो अनन्तवां भाग है। इस अनन्तवें भाग रूप २४०० को १२००० में से घटाने पर (१२०००—२४००) ९६०० प्राप्त होते हैं जो अनन्तवें भाग हानि रूप है। १२००० को असंख्यात रूप ४ का भाग देने पर ३००० प्राप्त होते हैं जो असंख्यातवें भाग है। इस असंख्यातवें भाग रूप ३००० को १२००० में से घटाने पर शेष ९००० रहते हैं जो असंख्यातवें भाग हानि रूप है। १२००० को संख्यात रूप ३ का भाग देने पर ४००० प्राप्त होते हैं। संख्यातवें भाग रूप ४००० को १२००० में से घटाने पर ८००० शेष रहते हैं जो संख्यातवें भाग हानि रूप है। १२००० को संख्यात रूप ३ से भाग देने पर ४००० लब्ध होता है। १ ००० से घटकर मात्र ४००० रह जाना संख्यातगुण हानि है। १२००० को असंख्यात रूप ४ का भाग देने पर ३००० लब्ध होता है। १२००० से घटकर मात्र ३००० शेष रह जाना असंख्यातगुण हानि है। १२००० को अनन्तरूप ५ का भाग देने पर २४०० लब्ध आते हैं। मात्र २४०० रह जाना अनन्तगुण हानि है। इस प्रकार ये छः हानियां हैं।

अंगुल के असंख्यातवें भाग बार अनन्तवें भाग वृद्धि होने पर एक बार असंख्यातवें भाग वृद्धि होती है। पुनः अंगुल के असंख्यातवें भाग बार अनन्तवें भाग वृद्धि होने पर एक बार असंख्यातवें भाग वृद्धि होती है। इस प्रकार अंगुल के असंख्यातवें भाग बार असंख्यातवें भाग वृद्धि होने पर एक बार संख्यातवें भाग वृद्धि होती है। पुनः पूर्वोक्त प्रकार अंगुल के असंख्यातवें भाग बार असंख्यातवें भाग वृद्धि होने पर एक बार संख्यातवें भाग वृद्धि होती है। इस प्रकार अंगुल के असंख्यातवें भाग बार संख्यातवें भाग वृद्धि होने पर एक बार संख्यातगुणी वृद्धि होती है। पूर्वोक्त प्रकार अंगुल के

असंख्यातवें भाग वार संख्यातगुणी वृद्धि होने पर एक वार असंख्यातगुण वृद्धि होती है। अंगुल के असंख्यातवें भाग वार असंख्यातगुण वृद्धि होने पर एक वार अनन्तगुण वृद्धि होती है। इस प्रकार छः वृद्धि होने पर छः हानियां होती

एक षट्स्थान पतित वृद्धि में, अनन्तगुण वृद्धि एक होती है। असंख्यात-गुण वृद्धि कांडक प्रमाण अर्थात् अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण होती हैं। संख्यातगुण वृद्धि कांडक × (कांडक + १) = (कांडक^{2} + कांडक) प्रमाण होती हैं। संख्यात भाग वृद्धि (कांडक + १) (कांडक^{2} + कांडक) = (कांडक^{3} + २ कांडक^{2} + कांडक) प्रमाण होती हैं। असंख्यात भाग वृद्धि (कांडक + १) (कांडक^{3} + २ कांडक^{2} + कांडक) — (कांडक^{4} + ३ कांडक^{3} + ३कांडक^{2} + कांडक) प्रमाण होती हैं। अनन्तभाग वृद्धि (कांडक + १) (कांडक^{4} + ३ कांडक^{3} + ३ कांडक^{2} + कांडक) = (कांडक^{5} + ४ कांडक^{4} + ६ कांडक^{3} + ४ कांडक^{2} + कांडक। प्रमाण होती हैं।[1]

इसी प्रकार एक षट्स्थान पतित हानि में अनन्तगुणहानि, असंख्यातगुण हानि, संख्यातगुण हानि, संख्यातभाग हानि, असंख्यातभाग हानि, अनन्त-भागहानि का प्रमाण जानना चाहिये।

अनन्तभाग वृद्धि की उर्वक (३) संज्ञा है, असंख्यातभाग वृद्धि की चतुरंक (४), संख्यातभाग वृद्धि की पंचांक (५), संख्यातगुण वृद्धि की षडंक (६), असंख्यातगुण वृद्धि की सप्तांक (७) और अनन्तगुण वृद्धि की अष्टांक (८) संज्ञा जाननी चाहिये।[2]

विभावार्थपर्यायाः षड्विधाः मिथ्यात्व-कषाय-राग-द्वेष-पुण्य-पापरूपाऽध्यवसायाः ॥१८॥

सूत्रार्थ—विभावअर्थपर्याय छः प्रकार की है (१) मिथ्यात्व (२) कषाय (३) राग (४) द्वेष (५) पुण्य और (६) पाप। ये छः अध्यवसाय विभाव अर्थ-पर्यायें हैं।

---

१. धवल पु० १२ पृ० १ ६ से २०१। २. धवल पु० १२ पृ० १७०।

विशेपार्थ—मिथ्यात्व कपाय आदि रूप जीव के परिणामों में कर्मोदय के कारण जो प्रति समय हानि या वृद्धि होती रहती है, वह विभाव अर्थ-पर्याय है। यह हानि या वृद्धि अनन्तवें भाग आदि रूप पट्स्थान-गत ही होगी, क्योंकि कोई भी हानि या वृद्धि इन छः स्थानों से बाहर नहीं हो सकती, इन छः स्थानों के अन्तर्गत ही होती है। श्री जयसेन आचार्य ने भी जीव की अशुद्ध पर्याय का कथन करते हुए लिखा है—

'अशुद्धार्थपर्याया जीवस्य पट्स्थानगतकपायहानिवृद्धि विशुद्ध-संक्लेशरूपशुभाशुभलेश्यास्थानेपु ज्ञातव्याः।'

[पंचास्तिकाय गाथा १६ टीका]

अर्थ—कपायों की पट्स्थानगत हानि वृद्धि होने से विशुद्ध या संक्लेश रूप शुभ अशुभ लेश्याओं के स्थानों में जीव की अशुद्ध (विभाव) अर्थ पर्यायें जाननी चाहियें।

'पुद्गलस्य विभावार्थपर्याया द्वयणुकादिस्कंधेपु वर्णान्तरादि-परिणामनरूपाः।' [पंचास्तिकाय गाथा १६ टीका]

अर्थ—द्वि-अणुक आदिक स्कंधों में वर्णादि से अन्य वर्णादि होने रूप पुद्गल की विभाव अर्थ पर्यायें हैं।

इस प्रकार जीव के लेश्यारूप परिणामों में और पुद्गल-स्कंधों के वर्णादि में जो प्रतिक्षण परिणमन होता है वह विभावार्थ पर्याय है।

॥ इति अर्थ पर्याय ॥

[व्यञ्जनपर्यायास्तेद्वेधा स्वभावविभावपर्यायभेदात्[1]]

अर्थ—स्वभावव्यंजनपर्याय और विभावव्यंजनपर्याय के भेद से व्यंजन-पर्याय दो प्रकार की है।

विशेपार्थ – द्रव्य-व्यंजनपर्याय और गुण-व्यंजनपर्याय में प्रत्येक स्वभाव

---

१. यह सूत्र यद्यपि किसी भी प्रति में नहीं है किन्तु प्रकरणानुसार यह सूत्र होना चाहिये।

और विभाव के भेद से दो दो प्रकार की है। संसारी जीव और पुद्गलस्कंध में ही विभाव पर्याय होती है।

जीव की विभाव-द्रव्य-व्यंजनपर्याय—

विभावद्रव्यव्यञ्जनपर्यायाश्चतुर्विधा नरनारकादिपर्यायाः अथवा चतुरशीतिलक्षा योनयः ॥१९॥

सूत्रार्थ—नर नारक आदि रूप चार प्रकार की अथवा चौरासी लाख योनि रूप जीव की विभाव-द्रव्य-व्यंजनपर्याय है।

विशेषार्थ—जीव और पुद्गलों में ही विभाव पर्यायें होती हैं। द्रव्य की व्यंजन पर्याय द्रव्य-व्यंजनपर्याय है। विभावरूप परिणत द्रव्य की व्यंजन-पर्याय विभाव-द्रव्य-व्यंजनपर्याय है। स्वभाव से अन्यथारूप होना विभाव है। द्रव्य के लक्षण या चिह्न को व्यंजन कहते हैं। परिणमन को पर्याय कहते हैं। नारक, तिर्यंच, मनुष्य और देव, ये चारों जीव की द्रव्य पर्यायें हैं, क्योंकि ये जीव के किसी गुण की पर्यायें नहीं हैं। ये पर्यायें गति व आयु-कर्मोदय-जनित हैं और जीव स्वभाव का पराभव करके उत्पन्न होती है इसलिये विभाव पर्यायें हैं। श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने कहा भी है—

कम्मं णामसमक्खं सभावमध अप्पणो सहावेण।
अभिभूय णरं तिरियं णेरइयं वा सुरं कुणदि ॥११७॥

[प्रवचनसार]

अर्थ—नाम संज्ञा वाला कर्म अपने स्वभाव से जीव के स्वभाव का पराभव करके मनुष्य, तिर्यंच, नारक अथवा देव पर्यायों को करता है।

'जीवस्य भवांतरगतस्य शरीरनोकर्मपुद्गलेन सह मनुष्यदेवादि-पर्यायोत्पत्तिः चेतनजीवस्याचेतनपुद्गलद्रव्येण सह मेलापकादसमान-जातीयः द्रव्यपर्यायो भण्यते। एते समानजातीया असमानजातीयाश्च अनेकद्रव्यात्मिकैकरूपा द्रव्यपर्याया जीवपुद्गलयोरेव भवन्ति अशुद्धा एव भवन्ति। कस्मादिति चेत्? अनेकद्रव्याणां परस्परसंश्लेषरूपेण सम्बन्धात्।'

[पंचास्तिकाय गाथा १६ टीका]

अर्थ—जीव जब दूसरी गति को जाता है तब नवीन शरीररूप नोकर्म पुद्गलों के साथ सम्बन्ध को प्राप्त करता है, उससे मनुष्य, देव, तिर्यंच, नारक पर्यायों की उत्पत्ति होती है। चेतनरूप जीव के साथ अचेतनरूप पुद्गल के मिलने से जो मनुष्यादि पर्याय हुई यह असमानजाति द्रव्य-पर्याय है। ये समानजातीय तथा असमानजातीय अनेक द्रव्यों की एकरूप द्रव्य-पर्यायें पुद्गल और जीव में ही होती हैं। ये अशुद्ध ही होती हैं, क्योंकि अनेक द्रव्यों के परस्पर संश्लेष-सम्बन्ध से उत्पन्न होती हैं।

जीव की विभाव-गुण-व्यंजनपर्याय—

विभावगुणव्यंजनपर्याया मत्यादयः ॥२०॥

सूत्रार्थ—मतिज्ञान आदिक जीव की विभाव-गुण-व्यंजनपर्यायें हैं।

विशेषार्थ—स्थूल, वचनगोचर, नाशवान और स्थिर पर्यायें व्यंजनपर्यायें हैं। सूक्ष्म और प्रतिक्षण नाश होने वाली पर्यायें अर्थपर्यायें हैं। कुमति, कुश्रुत, कुअवधि, मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय—ये सात ज्ञान; चक्षु, अचक्षु और अवधि—ये तीन दर्शन; ये सब जीव की विभाव-गुण-व्यंजनपर्यायें हैं। इन सातों उपयोगों का जघन्य काल भी अन्तर्मुहूर्त है, अतः ये व्यंजन-पर्यायें हैं। ये सातों उपयोग आवरणकर्म के क्षयोपशम के अधीन हैं अतः ये विभाव-पर्यायें हैं। ज्ञानगुण तथा दर्शनगुण की क्षायोपशमिक पर्यायें हैं, अतः गुण पर्यायें हैं। इस प्रकार मतिज्ञान आदिक जीव की विभाव-गुण-व्यंजन-पर्यायें हैं।

जीव की स्वभाव-द्रव्य-व्यंजनपर्याय —

स्वभावद्रव्यव्यंजनपर्यायाश्चरमशरीरात् किंचिन्न्यूनसिद्ध-पर्यायाः ॥२१॥

सूत्रार्थ—अन्तिम शरीर से कुछ कम जो सिद्धपर्याय है, वह जीव की स्वभाव-द्रव्य-व्यंजनपर्याय है।

विशेषार्थ—तिलोयपण्णत्ती अधिकार ९ के सूत्र ९ व १० में सिद्धों की अवगाहना का कथन है। इन दो गाथाओं द्वारा दो भिन्न मतों का उल्लेख किया गया है। इनमें से गाथा १० टिप्पण में उद्धृत की गई है जिसका

अर्थ है—'अन्तिम भव में जिसका जैसा आकार, दीर्घता और वाहुल्य हो उससे तृतीय भाग से कम सब सिद्धों की अवगाहना होती है।' अर्थात् पूर्व जन्म में शरीर की जितनी लम्बाई-चौड़ाई होती है उसके तीसरे भाग से न्यून सिद्ध पर्याय की अवगाहना होती है। किन्तु गाथा ६ में कहा है—'लोक विनिश्चय ग्रन्थ में लोक विभाग में सब सिद्धों की अवगाहना का प्रमाण कुछ कम चरम शरीर के समान कहा है।'[1] इसका दृष्टान्त इस प्रकार है—मोम रहित मूस के (सांचे के) बीच के आकार की तरह अन्तिम शरीर से कुछ कम आकार वाले केवलज्ञानमूर्ति अमूर्तिक सिद्ध भगवान विराजते हैं।[2] यह सिद्ध पर्याय जीव की शुद्ध पर्याय है इसलिए स्वभाव-पर्याय है। किसी विवक्षित गुण की पर्याय नहीं है इसलिए द्रव्य-पर्याय है। सिद्ध पर्याय सादि-अनन्त पर्याय है इसलिए व्यंजन-पर्याय है। सिद्ध पर्याय की अवगाहना अन्तिम शरीर से कुछ न्यून है।

जीव की स्वभाव-गुण-व्यंजनपर्याय—

स्वभावगुणव्यंजनपर्याया अनन्तचतुष्टयरूपा जीवस्य ॥२२॥

सूत्रार्थ—अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य इन अनन्तचतुष्टयरूप जीव की स्वभाव-गुण-व्यंजनपर्याय है।

विशेषार्थ—ज्ञानावरण कर्म के अत्यन्त क्षय से अनन्तज्ञान, दर्शनावरण कर्म के अत्यन्त क्षय से अनन्तदर्शन, मोहनीय कर्म के अत्यन्त क्षय से अनन्त सुख,[3] अन्तराय कर्म के अत्यन्त क्षय से अनन्तवीर्य, इस प्रकार चारघातिया कर्मों के क्षय से अनन्तचतुष्टयरूप जीव की स्वभाव-गुण-व्यंजनपर्याय उत्पन्न होती है। इन अनन्त चतुष्टय का कभी नाश नहीं होगा, अर्थात् चिरकाल

---

१. 'लोयविणिच्छयगंथे लोयविभागम्मि सव्वसिद्धाणं। ओगाहणपरिमाणं भणिद किंचूण चरिमदेहसमो ॥६॥' [ति० प०]। २. किंचिदून चरम-शरीराकारेण गतसिक्थमूषगर्भाकारवत् पुरुषाकारः।' [वृहद्द्रव्यसंग्रह गाथा ५१ टीका] ३. 'सौख्यं च मोहक्षयात्।' [पद्मनन्दि पंचविंशति ८/६]; 'तत्सुखं मोहक्षयात्।' [तत्त्वार्थवृत्ति ६/४४]।

स्थायी है, इसलिये यह व्यजनपर्याय है। कर्मोपाधिरहित पर्याय है अतः स्वभावपर्याय है। ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य गुणों की पर्याय है अतः गुण-पर्याय है। कहा भी है—

णाणं दंसण सुह वीरियं च जं उहयकम्मपरिहीणं।
तं सुद्धं जाण तुमं जीवे गुणपज्जय सव्वं ॥२६॥ [नयचक्र]

दोनों प्रकार के कर्मों से रहित शुद्ध जीव के अनन्त ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्य जीव की स्वभाव-गुण-पर्याय है।

पुद्गल की विभाव-द्रव्य-व्यंजनपर्याय—

पुद्गलस्य तु द्व्यणुकादयो विभावद्रव्यव्यंजनपर्यायाः ॥२३॥

सूत्रार्थ—द्वि-अणुकादि स्कंध पुद्गल की विभाव-द्रव्य-व्यंजन पर्याय है।

विशेषार्थ—यहां पर 'तु' शब्द का अर्थ 'और' है। और पुद्गल की विभाव-द्रव्य-व्यजनपर्यायें द्वि-अणुक आदि स्कंध है। शब्द, बन्ध, सूक्ष्मता, स्थूलता, संस्थान, भेद, तम, छाया, आतप, उद्योत आदि भी पुद्गल की विभाव-द्रव्य-व्यजनपर्यायें हैं। कहा भी है—

सद्दो बंधो सुहुमा थूलो संठाणभेदतमछाया।
उज्जोदादवसहिया पुग्गलदव्वस्स पज्जाया ॥१६॥

[वृहद्द्रव्यसंग्रह]

अर्थ—शब्द, बन्ध, सूक्ष्म, स्थूल, संस्थान, भेद, तम (अंधकार), छाया, उद्योत और आतप ये सब पुद्गल द्रव्य की पर्यायें हैं।

'शब्दादन्येऽपि आगमोक्तलक्षणा आकुञ्चनप्रसारणदधिदुग्धादयो विभावव्यंजनपर्याया ज्ञातव्या।' [वृ० द्र० सं० गाथा १६ टीका]

अर्थात्—शब्द आदि के अतिरिक्त शास्त्रोक्त अन्य भी, जैसे सिकुड़ना, फैलना, दही, दूध आदि विभाव-द्रव्य-व्यंजनपर्यायें जाननी चाहियें।

पुद्गल की विभाव-गुण-व्यंजनपर्याय—

रसरसान्तरगन्धगन्धान्तरादिविभावगुणव्यंजनपर्यायाः ॥२४॥

सूत्रार्थ—द्वि-अणुक आदि स्कन्धों में एक वर्ण से दूसरे वर्णरूप, एक रस से दूसरे रसरूप, एक गंध से दूसरे गंधरूप, एक स्पर्श से दूसरे स्पर्शरूप होने वाला चिरकाल-स्थायी-परिणमन पुद्गल की विभाव-गुण-व्यंजन-पर्याय है।

विशेषार्थ—द्वि-अणुक आदि स्कंध पुद्गल द्रव्य की अशुद्ध-पर्याय है। इस अशुद्ध पुद्गल द्रव्य के गुणों में जो परिणमन होता है वह विभाव-गुण-पर्याय है। यदि वह परिणमन क्षणक्षयी है तो वह विभाव-गुण-अर्थपर्याय है और यदि वह परिणमन चिरकाल स्थायी है तो वह विभाव-गुण-व्यंजन-पर्याय है। इसी बात को श्री जयसेन आचार्य ने पंचास्तिकाय गाथा १६ की टीका में कहा है—

'पुद्गलस्य विभावार्थपर्याया द्व्यणुकादिस्कंधेषु वर्णान्तरादि परिणमनरूपाः, विभावव्यंजनपर्यायाश्च पुद्गलस्य द्व्यणुकादि-स्कन्धेष्वेव चिरकालस्थायिनो ज्ञातव्यः।'

पुद्गल की स्वभाव-द्रव्य-व्यंजनपर्याय—

अविभागिपुद्गलपरमाणुः स्वभावद्रव्यव्यंजनपर्यायः॥२५॥

सूत्रार्थ—अविभागी पुद्गल परमाणु पुद्गल की स्वभाव-द्रव्य-व्यंजन-पर्याय है।

विशेषार्थ—टिप्पण में आचारसार तीसरी अध्याय की गाथा १३ उद्धृत की है उसका यह अभिप्राय है कि—परमाणु पुद्गल का ऐसा अवयव (टुकड़ा) है, जो भेदा नहीं जा सकता अर्थात् परमाणु के टुकड़े नहीं हो सकते, इसलिये पुद्गल परमाणु अविभागी है। उस पुद्गल परमाणु में स्निग्ध या रूक्ष गुण के कारण परस्पर बंधने की शक्ति रहती है। परस्पर बंध होजाने पर बहुप्रदेशी हो जाता है। अतः प्रचय शक्ति के कारण वह परमाणु भी कायवान् है। वह पुद्गल स्कंध के भेद से उत्पन्न होता है। वह परमाणु चतुरस्र है अर्थात् लम्बाई, चौड़ाई, मोटाई वाला है और इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता है।

'अरणवः परिमण्डलाः'[1] अर्थात् परमाणु गोल होता है। सबसे जघन्य अवगाहना गोल होती है। जीव की भी सबसे जघन्य अवगाहना वर्तुल-आकार अर्थात् गोल होती है।[2] श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने नियमसार में पुद्गल परमाणु का कथन इस प्रकार किया है—

अत्तादि अत्तमज्झं अत्तंतं णेव इंदिए गेज्झं।
जं दव्वं अविभागी तं परमाणुं विआणाहि ॥२६॥

अर्थ—जिसका आदि, मध्य और अन्त एक है और जिसको इन्द्रियां ग्रहण नहीं कर सकतीं ऐसा जो अविभागी (विभाग रहित) पुद्गल द्रव्य है उसे परमाणु समझो।

'भेदादणु' ॥५/२७॥[3] इस सूत्र द्वारा यह बतलाया गया है कि परमाणु स्कंध के भेद से उत्पन्न होता है, अतः अनादि काल से अब तक परमाणु की अवस्था में ही रहने वाला कोई भी परमाणु नहीं है।[4]

अपदेसो परमाणू पदेसमेत्तो य सयमसद्दो जो।
णिद्धो वा लुक्खो वा दुपदेसादित्तमणुहवदि ॥१६३॥ [प्रवचन०]

अर्थात् पुद्गल परमाणु अप्रदेश है (बहुप्रदेशी नहीं है), एक प्रदेशमात्र है, स्वयं अशब्द है, स्निग्धता या रूक्षता के कारण द्विप्रदेशादि स्कंधरूप बंध अवस्था का अनुभव करता है।

सव्वेसिं खंधाणं जो अंतो तं वियाण परमाणू।
सो सस्सदो असद्दो एक्को अविभागी मुत्तिभवो ॥७७॥
[पंचास्तिकाय]

अर्थ—स्कंध पर्यायों का जो अन्तिम भेद है वह परमाणु है, वह परमाणु विभाग के अभाव के कारण अविभागी है, एक प्रदेशी होने से एक है। मूर्त-द्रव्यरूप से अविनाशी होने से नित्य है। रूपादि के परिणाम से उत्पन्न होने

---

१. महापुराण सर्ग २४ श्लोक १४८। २. धवल पु० ११ पृ० ३३–३५, सूत्र २० की टीका। ३. मोक्ष-शास्त्र। ४. 'न चानादि परमाणुनाम कश्चिदस्ति।' राजवार्तिक ५/२५/१०।

के कारण मूर्तिप्रभव है। शब्द परमाणु का गुण नहीं है किन्तु पुद्गल स्कंध रूप पर्याय है, अतः परमाणु अशब्द है।

एयपदेसो वि अणू णाणाखंधप्पदेसदो होदि।
बहुदेसो उवयारा तेण य काओ भणंति सव्वण्हु ॥२६॥

[वृहद् द्रव्य-संग्रह]

अर्थ—एकप्रदेशी भी परमाणु अनेक स्कन्धरूप बहुप्रदेशी हो सकता है, इस कारण सर्वज्ञदेव ने पुद्गल परमाणु को उपचार से काय कहा है।

परमाणु निरवयव भी है और सावयव भी है। द्रव्यार्थिक नय का अवलम्बन करने पर दो परमाणुओं का कथंचित् सर्वात्मना समागम होता है, क्योंकि परमाणु निरवयव होता है। यदि परमाणु के अवयव होते हैं ऐसा माना जाय तो परमाणु को अवयवी होना चाहिए। परन्तु ऐसा नहीं है, क्योंकि अवयव के विभाग द्वारा अवयवों के संयोग का विनाश होने पर परमाणु का अभाव प्राप्त होता है, पर ऐसा है नहीं, क्योंकि परमाणु रूप कारण का अभाव होने से सब स्थूल कार्यों (स्कंधों) का भी अभाव प्राप्त होता है। परमाणु के कल्पितरूप अवयव होते हैं, यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि इस तरह मानने पर अव्यवस्था प्राप्त होती है। इसलिए परमाणु को निरवयव होना चाहिए। निरवयव परमाणुओं से स्थूल कार्य की उत्पत्ति नहीं बनेगी, यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि निरवयव परमाणुओं के सर्वात्मना समागम से स्थूल कार्य (स्कंध) की उत्पत्ति होने में कोई विरोध नहीं आता। पर्यायार्थिक नय का अवलम्बन करने पर दो परमाणुओं का कथंचित् एकदेशेन समागम होता है। परमाणु के अवयव नहीं होते, यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि यदि उसके उपरिम, अधस्तन, मध्यम और उपरिमोपरिम भाग न हों तो परमाणु का ही अभाव प्राप्त होता है। ये भाग कल्पित रूप होते हैं, यह कहना ठीक नही है, क्योंकि परमाणु में ऊर्ध्वभाग, अधोभाग, मध्यमभाग तथा उपरिमोपरिमभाग कल्पना के बिना भी उपलब्ध होते हैं। परमाणु के अवयव हैं इसलिये उनका सर्वत्र विभाग ही होना चाहिए, ऐसा कोई नियम नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर तो सब वस्तुओं के अभाव का

प्रसंग प्राप्त होता है। जिनका भिन्न-भिन्न प्रमाणों से ग्रहण होता है और जो भिन्न-भिन्न दिशा वाले हैं वे एक हैं यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर विरोध आता है। अवयवों से परमाणु नहीं बना है यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि अवयवों के समूहरूप ही परमाणु दिखाई देता है। अवयवों के संयोग का विनाश होना चाहिये यह भी कोई नियम नहीं है, क्योंकि अनादि संयोग के होने पर उसका विनाश नहीं होता।[1] इस प्रकार अविभागी पुद्गल-परमाणु द्रव्यार्थिक नय के अवलम्बन से निरवयव है और पर्यायार्थिक नय से सावयव है। पुद्गल परमाणु निरवयव ही है, ऐसा एकान्त नहीं है।

द्वि-अणुक आदि स्कंध कार्यों का उत्पादक होने से पुद्गल-परमाणु स्यात् कारण है, स्कंध-भेद से उत्पन्न होता है, अतः स्यात् कार्य है। परमाणु से छोटा कोई भेद नहीं है, अतः स्यात् अन्त्य है, प्रदेश-भेद न होने पर भी गुणादि-भेद होने के कारण परमाणु अन्त्य नहीं भी है। सूक्ष्म परिणमन होने से स्यात् सूक्ष्म है और स्थूल कार्य की उत्पत्ति की योग्यता रखने से स्यात् स्थूल भी है। द्रव्यता नहीं छोड़ता, अतः स्यात् नित्य है, स्कंधपर्याय को प्राप्त होता है और गुणों का विपरिणमन होने से स्यात् अनित्य है। अप्रदेशत्व की विवक्षा में एक रस, एक गंध, एक वर्ण और दो स्पर्श वाला है, अनेक प्रदेशी स्कंधरूप परिणमन की शक्ति होने से अनेक रस आदि वाला भी है। स्कंधरूप कार्य-लिंग से अनुमेय होने के कारण स्यात् कार्यलिंग है और प्रत्यक्ष-ज्ञान का विषय होने से कार्यलिंग नहीं भी है।[2] इस प्रकार परमाणु के विषय में अनेकान्त है।

यदि यह कहा जाय कि परमाणु अनादिकाल से अणु रहता है सो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि यदि परमाणु अपने अणुत्व को नहीं छोड़ता तो उससे स्कंधरूप कार्य भी उत्पन्न नहीं हो सकता।[3] इससे यह स्पष्ट हो जाता

---

१. धवल पु० १४ पृ० ५६–५७। २. तत्त्वार्थराजवार्तिक अ० ५ सू० २५ वार्तिक १६। ३. 'न हि तस्यानादिपारिणामिकाण्ववस्थस्य कार्यमस्ति, तत् स्वभावाविनिवृत्तेः।' [त० रा० वा० ५/२५/८]

है कि स्कंध अवस्था में परमाणु अणुरूप से नहीं रहता है किन्तु अणुत्व को छोड़कर स्कंधत्व को प्राप्त हो जाता है।

पुद्गल परमाणु-अवस्था में संश्लेषसम्बन्ध से रहित है, अतः परमाणु अवस्था शुद्ध है, इसीलिये परमाणु स्वभाव-पर्याय है। परमाणु किसी गुण की पर्याय नहीं है अतः द्रव्यपर्याय है। परमाणु-रूप पर्याय चिरकालस्थायी भी है इसलिये परमाणु व्यंजन पर्याय है। अतः परमाणु को पुद्गल की स्वभाव-द्रव्य-व्यंजन-पर्याय कहा गया है।

पुद्गल की स्वभाव-गुण-व्यंजन पर्याय—

वर्णगंधरसैकैकाविरुद्धस्पर्शद्वयं स्वभावगुणव्यंजनपर्यायाः ॥२६॥

सूत्रार्थ—पुद्गलपरमाणु में एक वर्ण, एक गंध, एक रस और परस्पर अविरुद्ध दो स्पर्श होते हैं। इन गुणों की जो चिरकाल स्थायी पर्यायें हैं वे स्वभाव-गुण-व्यंजन पर्यायें हैं।

विशेषार्थ—तीखा, चरपरा, कसायला, खट्टा, मीठा इन पांच रसों में से एक काल में एक रस रहता है। शुक्ल, पीत, रक्त, काला, नीला इन पांच वर्णों में से एक वर्ण एक काल में रहता है। सुगन्ध, दुर्गन्ध इन दो प्रकार की गंध में से कोई एक गंध एक काल में रहती है। शीत व उष्ण स्पर्श में से कोई एक, तथा स्निग्ध व रूक्ष स्पर्श में से कोई एक, इस प्रकार दो स्पर्श एक काल में परमाणु में रहते हैं। अर्थात् शीत-स्निग्ध, शीत-रूक्ष, उष्ण स्निग्ध, उष्ण-रूक्ष—स्पर्श के इन चार युगलों में से कोई एक युगल एक काल में एक परमाणु में रहता है। शीत-उष्ण ये दोनों स्पर्श या स्निग्ध-रूक्ष ये दोनों स्पर्श एक काल में एक परमाणु में नहीं रह सकते, क्योंकि ये परस्पर में विरुद्ध हैं।

एयरसवण्णगंधं दो फासं सद्दकारणमसद्दं ।
खंधंतरिदं दव्वं परमाणुं तं वियाणाहि ॥८१॥ [पंचास्तिकाय]

अर्थ—जिसमें कोई एक रस, कोई एक वर्ण, कोई एक गंध वदो स्पर्श

हों, जो शब्द का कारण हो, स्वयं शब्द रहित हो, जो स्कंध से जुदा हो, उस पुद्गल द्रव्य को परमाणु कहते हैं।

इस प्रकार पुद्गल द्रव्य की परमाणु रूप शुद्ध पर्याय में वर्ण, गंध व रस गुणों की एक एक पर्याय होती है तथा स्पर्शगुण की परस्पर अविरुद्ध दो पर्यायें होती है। वे स्वभाव गुण पर्यायें हैं। वे पर्यायें चिरकाल तक भी रहती हैं, अतः व्यंजनपर्यायें हैं। अर्थात् पुद्गल-परमाणु में वर्ण, गंध, रस व स्पर्शगुणों की चिरकाल तक रहने वाली पर्यायें, पुद्गल की स्वभाव-गुण-व्यंजन पर्यायें हैं।

॥ इति व्यंजन पर्याय ॥

अनाद्यनिधने द्रव्ये स्वपर्यायाः प्रतिक्षणम्।
उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति जलकल्लोलवज्जले ॥१॥
धर्माधर्मनभः काला अर्थपर्यायगोचराः।
व्यंजनेन तु सम्बद्धौ द्वावन्यौ जीव पुद्गलौ ॥२॥

अर्थ—अनादि-अनन्त द्रव्य में अपनी अपनी पर्यायें प्रतिक्षण उत्पन्न होती रहती हैं और विनशती रहती हैं जैसे जल में लहरें उत्पन्न होती रहती हैं और विनशती रहती हैं ॥१॥

धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य और कालद्रव्य इन चारों द्रव्यों में अर्थ पर्याय ही होती है किन्तु इनसे भिन्न जीव और पुद्गल इन दोनों द्रव्यों में व्यंजन पर्यायें भी होती हैं ॥२॥

विशेषार्थ गाथा १—द्रव्यार्थिक नय के अवलम्बन से द्रव्य नित्य है—न उत्पन्न होता है और न विनष्ट होता है अर्थात् अनादि-अनिधन है, सत् स्वभाव वाला है। कहा भी है—

'उप्पत्ती व विणासो दव्वस्स य णत्थि अत्थि सब्भावो।'
[पंचास्तिकाय गाथा ११]

'द्रव्यस्य···त्रिकालावस्थायिनोऽनादिनिधनस्य न समुच्छेदसमुदयौ युक्तौ। ···ततो द्रव्यार्थार्पणायामनुत्पादमनुच्छेदं सत्स्वभावमेव द्रव्यं।' [श्री अमृतचन्द्र आचार्य की टीका]

'अनादिनिधनस्य द्रव्यस्य द्रव्यार्थिकनयेनोत्पत्तिश्च विनाशो वा नास्ति।' [श्री जयसेन आचार्य की टीका]

यद्यपि द्रव्यार्थिक नय से द्रव्य त्रिकाल अवस्थायी अनादि–अनिधन है, उत्पाद-व्यय से रहित है तथापि पर्यायार्थिक नय के अवलम्बन से उस अनादि-अनिधन द्रव्य में प्रतिक्षण पर्यायें उत्पन्न होती हैं, विनष्ट होती हैं, क्योंकि द्रव्य अनित्य है और उत्पाद-व्यय सहित है। कहा भी है—

उप्पज्जंति वियंति य भावा णियमेण पज्जवणयस्स।
दव्वट्ठियस्स सव्वं सदा अणुप्पण्णमविणट्ठं॥

[जयधवल पु० १ पृ० २४८]

अर्थ—पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा द्रव्य नियम से उत्पन्न होते हैं और नाश को प्राप्त होते हैं तथा द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा वे सदा अविनष्ट और अनुत्पन्न स्वभाव वाले हैं।

इस प्रकार दोनों नयों के अवलम्बन से वस्तुस्वरूप की सिद्धि हो सकती है, क्योंकि वस्तुस्वरूप अनेकान्तमयी है। इन दोनों नयों में से किसी एक नय का एकान्त पक्ष ग्रहण करने से संसारादि का अभाव हो जायगा। कहा भी है—

ण य दव्वट्ठियपक्खे संसारो णेव पज्जवणयस्स।
सासयवियत्तिवायी जम्हा उच्छेदवादीया॥

[जयधवल पु० १ पृ० २४९]

अर्थ—द्रव्यार्थिक नय के पक्ष में संसार नहीं बन सकता है। उसी प्रकार सर्वथा पर्यायार्थिक नय के पक्ष में भी संसार नहीं बन सकता है, क्योंकि द्रव्यार्थिक नय नित्यव्यक्तिवादी है और पर्यायार्थिक नय उच्छेदवादी है।

विशेषार्थ गाथा २—धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य और काल-द्रव्य ये चारों द्रव्य सर्वदा शुद्ध हैं, क्योंकि कभी बंध को प्राप्त नहीं होते अतः इन चारों द्रव्यों में अगुरुलघुगुण के कारण प्रतिक्षण षट्वृद्धि-हानिरूप अर्थपर्याय होती रहती हैं, किन्तु बंध के सम्बन्ध से होने वाली क्रिया निमित्तक पर्यायें अथवा व्यंजनपर्यायें नहीं होती हैं। जीव और पुद्गल ये दोनों द्रव्य बंध को प्राप्त होने के कारण अशुद्ध होते हैं अतः इनमें क्रियानिमित्तक तथा व्यंजन पर्यायें भी होती हैं। कहा भी है—

परिणामजुदो जीओ गइगमणुवलंभओ असंदेहो।
तह पुग्गलो य पाहणपहुइ-परिणामदंसणा णाउं ॥२६॥
वंजणपरिणइविरहा धम्मादीआ हवे अपरिणामा।
अत्थ परिणाममासिय सव्वे परिणामिणो अत्था ॥२७॥

[वसुनन्दि श्रावकाचार]

अर्थ—जीव परिणामयुक्त है अर्थात् परिणामी है, क्योंकि उसका स्वर्ग, नरक आदि गतियों में निःसन्देह गमन पाया जाता है। इसी प्रकार पाषाण मिट्टी आदि स्थूल पर्यायों के परिणमन देखे जाने से पुद्गल को परिणामी जानना चाहिये। धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य, कालद्रव्य ये चारों द्रव्य व्यंजनपर्याय के अभाव से यद्यपि अपरिणामी कहलाते हैं तथापि अर्थपर्याय की अपेक्षा ये द्रव्य परिणामी हैं, क्योंकि अर्थपर्याय सभी द्रव्यों में होती है।

'धर्मादीनि द्रव्याणि यदि निष्क्रियाणि ततस्तेषामुत्पादो न भवेत्। क्रियापूर्वको हि घटादीनामुत्पादो दृष्टः? ···क्रियानिमित्तोत्पादाभावेऽप्येषां धर्मादीनामन्यथोत्पादः कल्प्यते। ···अनन्तानामगुरुलघुगुणानामागमप्रमाण्यादभ्युपगम्यमानानां षट्स्थानपतितया वृद्धया हान्या च प्रवर्तमानानां स्वभावदेवतेषामुत्पादो व्ययश्च।'

[सर्वार्थसिद्धि ५/७]

अर्थात्—क्योंकि घटादिक का क्रियापूर्वक ही उत्पाद होता है इसलिये

निष्क्रिय धर्मादि द्रव्यों का उत्पाद कैसे हो सकता है ? यद्यपि इन धर्मादिक द्रव्यों में क्रियानिमित्तक उत्पाद नहीं है तो भी इनमें अन्य प्रकार से उत्पाद माना गया है। प्रत्येक द्रव्य में आगम प्रमाण से अनन्त अविभाग-प्रतिच्छेद वाला अगुरुलघुगुण स्वीकार किया गया है जिसका छह स्थानपतित वृद्धि हानि के द्वारा वर्तन होता रहता है, अतः इन धर्मादि द्रव्यों का उत्पाद-व्यय स्वभाव से होता है।

इस प्रकार धर्मादि चार द्रव्यों में स्वभाव अर्थपर्याय होती है किन्तु जीव और पुद्गल में व्यंजनपर्यायें भी होती हैं।

॥ इति पर्यायाधिकार ॥

स्वभावाधिकार

प्रकारान्तर से द्रव्य का लक्षण—

गुणपर्ययवद्द्रव्यम् ॥२७॥[1]

सूत्रार्थ—गुण-पर्याय वाला द्रव्य है।

विशेषार्थ—पहिले सूत्र ६ व ७ में द्रव्य का लक्षण 'सत्' तथा 'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य' कह चुके हैं फिर भी यहां प्रकारान्तर से द्रव्य का लक्षण कहा गया है। द्रव्य का गुण और पर्यायों से कथंचित् भेद है इसलिये सूत्र में 'मतुप्' प्रत्यय का प्रयोग किया गया है। गुण अन्वयी होते हैं और पर्याय व्यतिरेकी होती हैं। कहा भी है—

गुण इदि दव्वविहाणं दव्वविकारो हि पज्जवो भणिदो।
तेहि अणूणं दव्वं अजुदपसिद्धं हवे णिच्चं ॥[2]

अर्थ—द्रव्य में भेद करने वाले धर्म को विशेष गुण और द्रव्य के विकार को पर्याय कहते हैं। द्रव्य इन दोनों से युक्त होता है। तथा वह अयुतसिद्ध और

---

१. यही सूत्र मोक्षशास्त्र अ० ५ में सूत्र ३८ है। २. सर्वार्थसिद्धि ५/३८।

नित्य होता है। अर्थात् द्रव्य, गुण और पर्याय से अभिन्न होता है।

एक द्रव्य दूसरे द्रव्य से जुदा होता है वह विशेष गुण है। इस गुण के द्वारा द्रव्य का अस्तित्व सिद्ध होता है। यदि भेदक विशेष गुण न हो तो द्रव्य में सांकर्य हो जाय।[1]

सूत्र ६, ७ व २७ के द्वारा द्रव्य का लक्षण तीन प्रकार कहा गया है। द्रव्य के इन तीन लक्षणों मे से किसी एक लक्षण का कथन करने पर शेष दोनों लक्षण भी अर्थ से ग्रहण हो जाते हैं। जैसे नित्य-अनित्य स्वभाव वाले 'सत्' कहने से नित्यरूप ध्रौव्य और अनित्यरूप उत्पाद-व्यय का अथवा नित्य-रूप गुण का और अनित्यरूप पर्याय का ग्रहण हो जाता है।[2] इस प्रकार इन तीनों लक्षणों में कोई भेद या अन्तर नही है, मात्र विवक्षाभेद है।

द्रव्यों के सामान्य व विशेष स्वभावों का कथन—

स्वभावाः कथ्यन्ते—अस्तिस्वभावः, नास्तिस्वभावः, नित्यस्वभावः, अनित्यस्वभावः, एकस्वभावः, अनेकस्वभावः, भेदस्वभावः, अभेदस्वभावः, भव्यस्वभावः, अभव्यस्वभावः, परमस्वभावः एते द्रव्याणामेकादश सामान्यस्वभावाः; चेतन-स्वभावः, अचेतनस्वभावः, मूर्तस्वभावः, अमूर्तस्वभावः, एक-प्रदेशस्वभावः, अनेकप्रदेशस्वभावः, विभावस्वभावः, शुद्ध-स्वभावः, अशुद्धस्वभावः, उपचरितस्वभावः एते द्रव्याणां दश विशेषस्वभावाः ॥२८॥

सूत्रार्थ—स्वभावों का कथन किया जाता है—१. अस्तिस्वभाव, २. नास्तिस्वभाव, ३. नित्यस्वभाव, ४. अनित्यस्वभाव, ५. एकस्वभाव, ६. अनेकस्वभाव, ७. भेदस्वभाव, ८ अभेदस्वभाव, ९. भव्यस्वभाव, १०. अभव्यस्वभाव, ११. परमस्वभाव—ये ग्यारह द्रव्यों के सामान्य स्वभाव हैं; १. चेतनस्वभाव, २. अचेतनस्वभाव, ३. मूर्तस्वभाव, ४. अमूर्तस्वभाव,

१. सर्वार्थसिद्धि ५/३८। २. पंचास्तिकाय गा० १० की टीका।

५. एकप्रदेशस्वभाव, ६. अनेकप्रदेशस्वभाव, ७. विभावस्वभाव, ८. शुद्धस्वभाव, ६. अशुद्धस्वभाव, १०. उपचरितस्वभाव—ये दश, द्रव्यों के विशेष स्वभाव हैं।

विशेषार्थ—द्रव्यों के स्वरूप को स्वभाव कहते हैं। तत्काल पर्याय को प्राप्त वस्तु भाव कहलाती है। अथवा वर्तमान पर्याय से युक्त द्रव्य को भाव कहते हैं।[1]

प्रश्न—गुणाधिकार कहा जा चुका है फिर स्वभाव अधिकार को पृथक् कहा जा रहा है। इसमें क्या रहस्य है?

उत्तर—जो गुण हैं वह गुणी में ही प्राप्त होते हैं।

प्रश्न—गुण गुणी में किस प्रकार प्राप्त होते हैं?

उत्तर—गुण गुणी में अभेद है इसलिये गुण गुणी में ही प्राप्त होते हैं। स्वभाव गुण में भी प्राप्त होते हैं और गुणी में भी प्राप्त होते हैं।

प्रश्न—स्वभाव गुण और गुणी में किस प्रकार प्राप्त होते हैं?

उत्तर—गुण और गुणी अपनी अपनी पर्याय से परिणमन करते हैं। जो परिणति अर्थात् पर्याय है वह ही स्वभाव है। गुण और स्वभाव में यह विशेपता है। इसलिये स्वभाव का स्वरूप पृथक् लिखा गया है।

१. जिस द्रव्य का जो स्वभाव है, उस अपने स्वभाव से कभी च्युत नहीं होना अस्तिस्वभाव है, जैसे अग्नि अपने दाह स्वभाव से कभी च्युत नहीं होती। [आलापपद्धति सूत्र १०६]

२. परस्वरूप नहीं होने के कारण 'नास्तिस्वभाव' है। [सूत्र १०७]

३. अपनी अपनी नाना पर्यायों में 'यह वही है' इस प्रकार द्रव्य का हमेशा सद्भाव पाया जाना 'नित्यस्वभाव' है। [सूत्र १०८]

४. उस द्रव्य का अनेक पर्याय रूप परिणत होने से 'अनित्यस्वभाव' है। [सूत्र १०९]

५. सम्पूर्ण स्वभावों का एक आधार होने से 'एकस्वभाव' है। [सूत्र ११०]

---

१. धवल पु० १ पृ० १४।

६. एक ही द्रव्य के अनेक स्वभावों की उपलब्धि होने से 'अनेकस्वभाव' है। [सूत्र १११]

७. गुण गुणी आदि में संज्ञा, संख्या, लक्षण और प्रयोजन की अपेक्षा भेद होने से 'भेदस्वभाव' है। [सूत्र ११२]

८. गुण-गुणी आदि में प्रदेश भेद नहीं होने से अथवा एक स्वभाव होने से 'अभेदस्वभाव' है। [सूत्र ११३]

९. भाविकाल में आगे की (भावि) पर्यायों के होने योग्य है अथवा अपने स्वरूप से परिणमन करने योग्य है अतः 'भव्यस्वभाव' है। [सूत्र ११४]

१०. काल-त्रय में भी पीछे की (भूत) पर्यायाकार होने के अयोग्य है अथवा पर-द्रव्य स्वरूपाकार होने के अयोग्य है अतः 'अभव्यस्वभाव' है। [सूत्र ११५]

११. पारिणामिक भाव की प्रधानता से 'परमस्वभाव' है। [सूत्र ११६]

ये ग्यारह, सामान्य स्वभाव है। विशेष दस स्वभावों में से १. चेतनस्वभाव, २. अचेतनस्वभाव, ३ मूर्तस्वभाव, ४. अमूर्तस्वभाव— इन चार स्वभावों की व्याख्या सूत्र ९ के विशेषार्थ में हो चुकी है। शेष छह विशेष स्वभावों की व्याख्या निम्न प्रकार है—

५. अखण्डपने की अपेक्षा 'एकप्रदेश' स्वभाव है।

६. भेदपने की अपेक्षा 'अनेक-प्रदेश' स्वभाव है।

७. स्वभाव से अन्यथा होना 'विभाव' स्वभाव है। [सूत्र १२१]

८ कैवल्य अर्थात् शुद्ध भाव को 'शुद्ध' स्वभाव कहते हैं। [सूत्र १२२]

९. शुद्ध स्वभाव से विपरीत 'अशुद्ध' स्वभाव है। [सूत्र १२२]

१०. स्वभाव का अन्यत्र उपचार करना 'उपचरित' स्वभाव है, जैसे मार्जार (बिलाव) को सिंह कहना। वह उपचरित स्वभाव दो प्रकार का है १. कर्मज, २. स्वाभाविक। जीव के मूर्तत्व और अचेतनत्व उपचरित-कर्मज-स्वभाव हैं। सिद्धों के सर्वज्ञता और सर्वदर्शिता स्वाभाविक-उपचरित-स्वभाव है—क्योंकि अनुपचरित नय से जीव के अमूर्त व चेतन स्वभाव हैं और सिद्ध आत्मज्ञ हैं। [सूत्र १२३–१२४]

जीव और पुद्गल के भावों की संख्या—

जीवपुद्गलयोरेकविंशतिः ॥२६॥

सूत्रार्थ—जीव में और पुद्गल में उपर्युक्त इक्कीस इक्कीस (११ सामान्य और १० विशेष) स्वभाव पाये जाते हैं ॥३५॥

विशेषार्थ—जीव में इक्कीस भाव बतलाये गये हैं जिससे स्पष्ट हो जाता है कि जीव में अचेतन स्वभाव और मूर्तस्वभाव भी हैं। इसी प्रकार पुद्गल में भी इक्कीस स्वभाव कहे गये हैं जिससे स्पष्ट है कि पुद्गल में चेतन और अमूर्त स्वभाव भी हैं।

शंका—छह द्रव्यों में जीव चेतन स्वभाव वाला और शेष पांच द्रव्य (पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, कालद्रव्य) अचेतन स्वभाव वाले हैं। यदि जीव में भी अचेतन स्वभाव मान लिया जायगा तो जीव में और अन्य पाँच द्रव्यों में कोई अन्तर नहीं रहेगा ?

समाधान—जीव में अचेतनधर्म दो अपेक्षा से कहा गया है।

(१) जीव में अनन्त गुण हैं। उनमें से चेतन गुण तो चेतनरूप है, अन्य गुण चेतनरूप नहीं हैं, क्योंकि एक गुण में दूसरा गुण नहीं होता है।

'द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः ॥५/४१॥' [तत्वार्थ-सूत्र]

इस सूत्र में गुण का लक्षण बतलाते हुये जो 'निर्गुण' शब्द दिया गया है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि एक गुण अन्य गुणों से रहित होता है। यदि चेतनगुण के अतिरिक्त अन्यगुणों को भी चेतनरूप मान लिया जाय तो संकर दोष आ जायगा अथवा चेतन के अतिरिक्त अन्यगुणों के अभाव का प्रसंग आ जायगा। इसलिये जीव में चेतनगुण के अतिरिक्त अन्य गुण चेतन रूप नहीं हैं अर्थात् अचेतन हैं। श्री १०८ अकलंक देव ने स्वरूप सम्बोधन में कहा भी है—

प्रमेयत्वादिभिर्धर्मैरचिदात्मा चिदात्मकः।
ज्ञानदर्शनतस्तस्माच्चेतनाचेतनात्मकः ॥३॥

अर्थ—प्रमेयत्व आदि धर्मों की अपेक्षा आत्मा अचित् है और ज्ञान, दर्शन

की अपेक्षा से चिदात्मक है। अतएव आत्मा चेतनात्मक भी है और अचेतनात्मक भी है।

(२) जीव अनादिकाल से कर्मों से बँधा हुआ है। उन कर्मों ने जीव का चेतनगुण घात रखा है। कहा भी है—

का वि अउव्वा दीसदि पुग्गल-दव्वस्स एरिसी सत्ती।
केवल-णाणसहावो विणासिदो जाइ जीवस्स ॥२११॥

[स्वा० का० अ०]

अर्थ—पुद्गल द्रव्य की कोई ऐसी अपूर्व शक्ति है, जिससे जीव का केवलज्ञान-स्वभाव भी नष्ट हो जाता है।

इस प्रकार जितने अंशों में चेतनगुण का घात हो रहा है, उतने अंशों में अचेतनभाव है। जीव के पांच स्वतत्त्व-भावों में से एक औदयिक भाव है, जिसके इक्कीस भेदों में से एक अज्ञान (अचेतन) भी भेद है। कहा भी है—

'औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्वमौदयिकपारिणामिकौ च ॥१॥ गतिकषायलिङ्गमिथ्यादर्शनाज्ञानासंयतासिद्धलेश्याश्चतुश्चतुस्त्र्येकैकैकैकषड्भेदाः ॥६॥ [तत्वार्थ-सूत्र अध्याय २]

इस प्रकार तत्त्वार्थसूत्र में भी अज्ञान (अचेतन) भी जीव का स्वतत्त्व भाव कहा गया है। क्योंकि जीव का यह अचेतन भाव द्रव्य कर्मों के सम्बन्ध से होता है और पौद्गलिक कर्म जीव से भिन्न द्रव्य हैं, इसलिये असद्भूत व्यवहारनय की अपेक्षा से जीव में अचेतन भाव है।

'जीवस्याप्यसद्भूतव्यवहारेणाचेतनस्वभावः'

[आलापपद्धति सूत्र १६२]

इसी प्रकार कर्मबन्ध के कारण जीव मूर्तरूप परिणमन कर रहा है।

'स्पर्शरसगंधवर्णसद्भावस्वभावं मूर्तं। स्पर्शरसगंधवर्णाऽभावस्वभावममूर्तं। ...अमूर्तः स्वरूपेण जीवः पररूपावेशान्मूर्तोऽपि।'

[पंचास्तिकाय गा० ९७ टीका]

अर्थ—स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण का सद्भाव जिसका स्वभाव है वह मूर्त है; स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण का अभाव जिसका स्वभाव है वह अमूर्त है। जीव स्वरूप से अमूर्त है किन्तु पररूप से अनुरक्त होने की अपेक्षा मूर्त भी है।

बंधं पडि एयत्तं लक्खणदो हवइ तस्स णाणत्तं।
तम्हा अमुत्तिभावोऽणेयंतो होइ जीवस्स॥ [सर्वार्थसिद्धि २/७]

अर्थ—आत्मा और कर्म बन्ध की अपेक्षा से एक हैं तो भी लक्षण की अपेक्षा वह भिन्न हैं। इसलिये जीव का अमूर्तिक भाव अनेकान्तरूप है। वह बंध की अपेक्षा से मूर्त है और स्वभाव अपेक्षा से मूर्त नहीं है।

'कम्म सम्बन्धवसेण पोग्गलभावमुवगयजीवदव्वाणं च पच्चक्खेण परिच्छिन्तिं कुणइ ओहिणाणं।' [जयधवल पु० १ पृ० ४३]

अर्थ—कर्म के सम्बन्ध से पुद्गलभाव (मूर्तभाव) को प्राप्त हुये जीवों को जो प्रत्यक्ष रूप से जानता है- उसे अवधिज्ञान कहते हैं।

जीव में यह मूर्त भाव पौद्गलिक कर्मों के सम्बन्ध से आया है इसलिये जीव में यह मूर्तभाव असद्भूत-व्यवहारनय का विषय है। **'जीवस्याप्यसद्भूतव्यवहारेण मूर्तस्वभावः'** [आलापपद्धति सूत्र १६४]—अर्थात् असद्भूत-व्यवहारनय से जीव के भी मूर्तस्वभाव है। इसका विशेष कथन सूत्र १०३ की टीका में भी है।

पुद्गल में चेतन स्वभाव कहने का कारण यह है कि पौद्गलिक कर्म आत्म-परिणामों से अनुरंजित होने के कारण कथंचित् चैतन्य है किन्तु पुद्गल द्रव्य स्वभाव की अपेक्षा अचेतन है। कहा भी है—

'पौरुषेयपरिणामानुरञ्जितत्वात् कर्मणः स्याच्चैतन्यम्, पुद्गलद्रव्यादेशाच्च स्यादचेतनत्वमिति।' [राजवार्तिक ५/१९/२४]

अर्थ—'कर्म' पुरुष के परिणामों से अनुरंजित होने के कारण कथंचित् चेतन हैं, पुद्गलद्रव्य की दृष्टि से वह अचेतन हैं।

आत्मा पुद्गल द्रव्य से भिन्न दूसरा द्रव्य है। क्योंकि आत्मपरिणामों से अनुरंजित होने के कारण पुद्गल में चेतनभाव है अतः यह असद्भूत व्यवहार

नय का विषय है। कहा भी है—

'असद्भूतव्यवहारेण कर्मनोकर्मणोरपि चेतनस्वभावः।'

[आलापपद्धति सूत्र १६०]

अर्थ—असद्भूतव्यवहारनय से कर्म नोकर्म के भी चेतनस्वभाव है। सूत्र १६० में भी पुद्गल के चेतनस्वभाव बतलाया गया है।

इसी प्रकार पुद्गल में अमूर्तभाव सिद्ध कर लेना चाहिये।

धर्मादि तीन द्रव्यों में स्वभावों की संख्या—

चेतनस्वभावः मूर्तस्वभावः विभावस्वभावः अशुद्धस्वभावः उपचरितस्वभावः एतैर्विना धर्मादि [धर्माधर्माकाशानां] त्रयाणां षोडशस्वभावाः सन्ति ॥३०॥

सूत्रार्थ—धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य तथा आकाशद्रव्य इन तीन द्रव्यों में उपर्युक्त २१ स्वभावों में से चेतनस्वभाव, मूर्तस्वभाव, विभावस्वभाव, उपचरित स्वभाव और अशुद्धस्वभाव ये पांच स्वभाव नहीं होते, शेष सोलह स्वभाव होते हैं। अर्थात् १ अस्तिस्वभाव, २. नास्तिस्वभाव, ३. नित्यस्वभाव, ४. अनित्यस्वभाव, ५. एकस्वभाव, ६. अनेकस्वभाव, ७. भेदस्वभाव, ८. अभेदस्वभाव, ९. परमस्वभाव, १०. एकप्रदेशस्वभाव, ११. अनेकप्रदेश-स्वभाव, १२ अमूर्तस्वभाव, १३. अचेतनस्वभाव, १४. शुद्धस्वभाव, १५. भव्य-स्वभाव, १६. अभव्यस्वभाव— ये १६ स्वभाव होते हैं।

विशेषार्थ—धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य, कालद्रव्य और पुद्गलद्रव्य ये पांचों ही द्रव्य अचेतन स्वभाव वाले हैं, मात्र जीवद्रव्य चेतनस्वभावी है, किन्तु जीव के साथ बंध को प्राप्त हो जाने से पुद्गल में तो चेतनस्वभाव हो जाता हैं; शेष चार द्रव्य (धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य और कालद्रव्य) जीव के साथ बंध को प्राप्त नहीं होते, इसलिये इन चारों द्रव्यों में चेतन-स्वभाव का निषेध किया गया है।

मात्र पुद्गल द्रव्य मूर्तिक है। शेष पांच द्रव्य (जीव, धर्म, अधर्म, आकाश, काल) अमूर्तिक हैं, किन्तु पुद्गल के साथ बंध को प्राप्त हो जाने

से जीव में मूर्तिक स्वभाव हो जाता है। शेष चार द्रव्य (धर्म, अधर्म, आकाश, काल) पुद्गल के साथ बंध को प्राप्त नहीं होते, इसलिए इनमें मूर्त-स्वभाव का निषेध किया गया है।

धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य, कालद्रव्य ये चारों द्रव्य बंध को प्राप्त नहीं होते इसलिये इनमें विभावस्वभाव, उपचरितस्वभाव और अशुद्धस्वभाव भी नहीं होते, क्योंकि अन्य द्रव्य के साथ बंध को प्राप्त होने पर ही द्रव्य अशुद्ध होता है, विभावरूप परिणमता है और कथंचित् उस अन्य द्रव्य के स्वभाव को ग्रहण करने से अन्यद्रव्य के स्वभाव का उपचार होता है। जीव और पुद्गल बंध को प्राप्त होते हैं, इसलिये उनमें विभावस्वभाव, उपचरित स्वभाव और अशुद्धस्वभाव का कथन किया गया है।

कालद्रव्य में स्वभावों की संख्या—

तत्र बहुप्रदेशत्वंविना कालस्य पंचदश स्वभावाः ॥३१॥

सूत्रार्थ—(इक्कीस स्वभावों में से पांच स्वभावों का निषेध करके सूत्र ३० में शेष सोलह स्वभाव धर्मादिक तीन द्रव्यों में बतलाये गये थे) उन सोलह स्वभावों में से बहुप्रदेश-स्वभाव के बिना शेष पन्द्रह स्वभाव कालद्रव्य में पाये जाते हैं।

विशेषार्थ—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश ये पांच द्रव्य बहुप्रदेशी हैं, इसीलिये इनको पंचास्तिकाय कहा गया है, किन्तु कालद्रव्य अर्थात् कालाणु एकप्रदेशी है, इसलिये उसको बहुप्रदेशी अर्थात् कायवान् नहीं कहा गया है।

'अजीवकायाधर्म्माधर्म्माकाशपुद्गलाः।' ॥५/१॥ [तत्वार्थसूत्र]

अर्थ—धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य, पुद्गलद्रव्य ये चारों अजीव भी हैं और कायवान् भी हैं।

जीव, पुद्गल, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य यद्यपि बहुप्रदेशी हैं तथापि अखण्ड की अपेक्षा से इनमें एकप्रदेशी-स्वभाव भी है।

यद्यपि पुद्गल परमाणु भी एकप्रदेशी है तथापि स्निग्ध-रूक्ष गुण के कारण वह पुद्गल परमाणु बंध को प्राप्त होने पर बहुप्रदेशी हो जाता है,

इसलिये पुद्गल परमाणु उपचार से बहुप्रदेशी है। कहा भी है—

"एयपदेसो वि अणू णाणाखंधप्पदेसदो होदि।
बहुदेसो उवयारा तेण य काओ भणंति सव्वण्हु ॥२६॥
[द्रव्यसंग्रह]

अर्थ—एकप्रदेशी भी परमाणु अनेक स्कंधरूप बहुप्रदेशी हो सकता है। इस कारण सर्वज्ञदेव उपचार से पुद्गल परमाणु को काय (बहुप्रदेशी) कहते हैं।

स्निग्ध रूक्ष गुण न होने के कारण कालाणु बंध को प्राप्त नहीं हो सकता, इसलिये उपचार से भी बहुप्रदेशी नहीं है।

एकविंशतिभावाः स्युर्जीवपुद्गलयोर्मताः।
धर्मादीनां षोडश स्युः काले पंचदश स्मृताः ॥३॥

अर्थ—जीव और पुद्गल द्रव्यों में इक्कीस, धर्म, अधर्म और आकाश इन तीन द्रव्यों में सोलह तथा काल द्रव्य में पन्द्रह स्वभाव जानना चाहिये।

॥ इति स्वभावाधिकार ॥

प्रमाण अधिकार

ते कुतो ज्ञेयाः ? ॥३२॥

सूत्रार्थ—वे इक्कीस प्रकार के स्वभाव कैसे जाने जाते हैं, अर्थात् किसके द्वारा जाने जाते हैं ?

प्रमाणनयविवक्षातः ॥३३॥

सूत्रार्थ—प्रमाण और नय की विवक्षा के द्वारा उन इक्कीस स्वभावों के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान होता है।

विशेषार्थ—'प्रमाणनयैरधिगमः ॥१/६॥' [त० सू०] द्वारा भी कहा गया है कि प्रमाण व नय के द्वारा वस्तु का ज्ञान होता है।

प्रमाण का लक्षण—

सम्यग्ज्ञानं प्रमाणम् ॥३४॥

सूत्रार्थ—सम्यग्ज्ञान को प्रमाण कहते हैं।

विशेषार्थ—संशय विपर्यय और अनध्यवसाय से रहित ज्ञान को सम्यग्ज्ञान कहते हैं। समीचीन ज्ञान को सम्यग्ज्ञान कहते हैं।

अन्यूनमनतिरिक्तं यथातथ्यं विना च विपरीतात्।
निःसन्देहं वेद यदाहुस्तज्ज्ञानमागमिनः ॥४२॥

[रत्नकरण्ड श्रावकाचार]

अर्थ—जो ज्ञान न्यूनता रहित, अधिकता रहित, विपरीतता रहित और सन्देह रहित, जैसा का तैसा जानता है, शास्त्र के ज्ञाता पुरुष उसको सम्यक्-ज्ञान कहते हैं।

अनादि को सादि रूप जानना, अनन्त (अन्त रहित) को सान्त रूप जानना, अविद्यमान पर्याय को विद्यमान रूप से जानना, अभाव रूप पर्यायों को सद्भाव रूप से जानना, अनियत को नियत रूप जानना सम्यग्ज्ञान नहीं है, क्योंकि उसने यथार्थ नहीं जाना है।

प्रमाण के भेद—

तद्द्वेधा प्रत्यक्षेतरभेदात् ॥३५॥

सूत्रार्थ—प्रत्यक्ष प्रमाण और इतर अर्थात् परोक्ष प्रमाण के भेद से वह प्रमाण दो प्रकार का है।

विशेषार्थ—तत्त्वार्थ सूत्र में भी 'तत्प्रमाणे ॥१/१०॥' इस सूत्र द्वारा प्रमाण के दो भेद वतलाये हैं। इतर से अभिप्राय परोक्ष का है। अनुमान, उपमान, शब्द प्रमाण परोक्षप्रमाण हैं। जो इन्द्रिय ज्ञान है वह परोक्षप्रमाण है।

प्रति+अक्ष=प्रत्यक्ष। 'अक्ष्णोति व्याप्नोति जानातीत्यक्ष आत्मा, इस प्रकार अक्ष शब्द का अर्थ आत्मा है। केवल आत्मा के प्रति जो नियत है उसको प्रत्यक्ष कहते हैं। [सर्वार्थसिद्धि १/१२]

जो ज्ञान इन्द्रिय आदि और प्रकाश आदि की सहायता के विना पदार्थों को स्पष्ट जानता है उसको प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं। कहा भी है—

इन्द्रियानिन्द्रियापेक्षमुक्तमव्यभिचारि च।
साकारग्रहणं यत्स्यात्तत्प्रत्यक्षं प्रचक्ष्यते ॥१।१७॥ [तत्त्वार्थसार]

अर्थ—इन्द्रिय और अनिन्द्रिय (मन) की अपेक्षा से रहित और व्यभिचार रहित जो पदार्थों का साकार ग्रहण है उसको प्रत्यक्ष प्रमाण कहा गया है। सकल प्रत्यक्ष जो केवलज्ञान वह सिद्ध व अरहंत भगवान के ही होता है।

परोक्ष=परः+अक्ष। आत्मा से भिन्न इन्द्रियादि जो पर, उनकी सहायता की अपेक्षा रखने वाला ज्ञान परोक्ष ज्ञान है। कहा भी है—

'पराणीन्द्रियाणि मनश्च प्रकाशोपदेशादि च बाह्यनिमित्तं प्रतीत्य तदावरणकर्मक्षयोपशमापेक्षस्यात्मनो मतिश्रुतं उत्पद्यमानं परोक्षमित्याख्यायते।' [सर्वार्थसिद्धि १।११]

अर्थात्—मतिज्ञानावरण और श्रुतज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम की अपेक्षा रखने वाले आत्मा के, इन्द्रिय और मन तथा प्रकाश और उपदेशादिक बाह्यनिमित्तों की सहायता से, मतिज्ञान, श्रुतज्ञान उत्पन्न होते हैं, अतः ये दोनों ज्ञान परोक्ष हैं।

'पराणीन्द्रियाणि आलोकादिश्च, परेषामायत्तं ज्ञानं परोक्षम्।'
[धवल पु० १३ पृ० २१२]

अर्थ—पर का अर्थ इन्द्रियां और आलोकादि हैं, और पर अर्थात् इन इन्द्रियादि के अधीन जो ज्ञान होता है वह परोक्ष ज्ञान है।

समुपात्तानुपात्तस्य प्राधान्येन परस्य यत्।
पदार्थानां परिज्ञानं तत्परोक्षमुदाहृतम् ॥१६॥ [तत्त्वार्थसार]

अर्थ—अपने से भिन्न जो समुपात्त इन्द्रियादि और अनुपात्त प्रकाशादि (निमित्तों) की मुख्यता से जो पदार्थों का ज्ञान वह परोक्ष कहा जाता है।

प्रत्यक्ष ज्ञान के दो भेद हैं, सकल प्रत्यक्ष और एकदेश प्रत्यक्ष। अब एकदेश-प्रत्यक्ष ज्ञान का कथन करते हैं—

अवधिमनःपर्ययावेकदेशप्रत्यक्षौ ॥३६॥

अर्थ—अवधिज्ञान और मनःपर्यय ज्ञान ये दोनों एकदेश प्रत्यक्ष हैं।

विशेषार्थ—अवधि का अर्थ मर्यादा या सीमा है। जो द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की मर्यादा लिये हुए ज्ञान है वह अवधिज्ञान है। कहा भी है—

'अवधिर्मर्यादा सीमेत्यर्थः। अवधिसहचरितं ज्ञानमवधिः। अवधिश्च सः ज्ञानं च तदवधिज्ञानम्। नातिव्याप्तिः रूढिबलाधानवशेन क्वचिदेव ज्ञाने तस्यावधिशब्दस्य प्रवृत्तेः। किमट्ठं तत्थ ओहिसद्दो परूविदो? ण; एदम्हादो हेट्ठिमसव्वणाणाणि सावहियाणि, उवरिमणाणं णिरवहियमिदि जाणावणट्ठं। ण मणपज्जवणाणेण वियहिचारो; तस्स वि अवहिणाणादो अप्पविसयत्तेण हेट्ठिमत्तब्भुवगमादो। पओगस्स पुण ट्ठाणविवज्जासो संजमसहगयत्तेण कयविसेसपदुप्पायणफलो त्ति ण कोच्छि दोसो।' [जयधवल पु० १ पृ० १७]

अर्थ—अवधि, मर्यादा और सीमा ये शब्द एकार्थवाची हैं। अवधि से सहचरित ज्ञान भी अवधि कहलाता है। इस प्रकार अवधिरूप जो ज्ञान है वह अवधिज्ञान है। यदि कहा जाय कि अवधिज्ञान का लक्षण इस प्रकार करने पर मतिज्ञान अलक्ष्यों में यह लक्षण चला जाता है, इसलिये अतिव्याप्ति दोष प्राप्त होता है, सो ऐसा नहीं है, क्योंकि रूढ़ि की मुख्यता से किसी एक ही ज्ञान में अवधि शब्द की प्रवृत्ति होती है। अवधिज्ञान से नीचे के सभी ज्ञान सावधि हैं और ऊपर का केवलज्ञान निरवधि है, इस बात का ज्ञान कराने के लिये अवधिज्ञान में अवधि शब्द का प्रयोग किया है। यदि कहा जाय कि इस प्रकार का कथन करने पर मनःपर्ययज्ञान से व्यभिचार दोष आता है, सो भी बात नहीं है, क्योंकि मनःपर्ययज्ञान भी अवधिज्ञान से अल्प विषय वाला है, इसलिये विषय की अपेक्षा उसे अवधिज्ञान से नीचे का स्वीकार किया है। फिर भी संयम के साथ रहने के कारण मनःपर्ययज्ञान में जो विशेषता आती है उस विशेषता को दिखलाने के लिये मनःपर्ययज्ञान को अवधिज्ञान से नीचे न रखकर ऊपर रखा है, इसलिये कोई दोष नहीं है।

वह अवधिज्ञान तीन प्रकार का है—देशावधि, परमावधि और सर्वावधि। अथवा दो प्रकार का है—भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय। अथवा छह प्रकार का है—हीयमान, वर्धमान, अवस्थित, अनवस्थित, अनुगामी और अननुगामी।

अवधिज्ञान का विषय रूपी पदार्थ है। कहा भी है—

'रूपिष्ववधेः।' [तत्त्वार्थसूत्र १/२७]

इसलिये अवधिज्ञान पुद्गल द्रव्य और संसारी जीव को जानता है। कहा भी है—

'परमाणुपज्जंतासेसपोग्गलदव्वाणमसंखेज्जलोगमेत्तखेत्तकालभावाणं कम्मसंबंधवसेण पोग्गलभावमुवगयजीवदव्वाणं च पच्चक्खेण परिच्छित्ति कुणइ ओहिणाणं।' [जयधवल पु० १ पृ० ४३]

अर्थ—महास्कंध से लेकर परमाणु पर्यन्त समस्त पुद्गल द्रव्यों को, असंख्यातलोकप्रमाण क्षेत्र को, असंख्यातलोकप्रमाण काल को और असंख्यातलोकप्रमाण भावों को तथा कर्म के सम्बन्ध से पुद्गल भाव को प्राप्त हुए जीवों को जो प्रत्यक्ष रूप से जानता है उसे अवधिज्ञान कहते हैं।

गोम्मटसार जीवकाण्ड गाथा ५९२ में 'रूवी जीवा' शब्दों द्वारा संसारी को रूपी कहा है तथा २१ स्वभावों में जीव के मूर्तस्वभाव कहा है इसलिए संसारी जीव अवधिज्ञान का विषय बन जाता है।

धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य, कालद्रव्य और सिद्धजीव ये अवधिज्ञान के विषय नहीं हैं। [धवल पु० १५ पृ० ७ व ३२]

णेरइयदेवतित्थयरोहिक्खेत्तस्सबाहिरं एदे।
जाणंति सव्वदो खलु सेसा देसेण जाणंति॥

[धवल पु० १३ पृ० २९५]

अर्थ—नारकी, देव और तीर्थंकर का अवधिज्ञान सर्वाङ्ग से जानता है और शेष जीवों का अवधिज्ञान शरीर के एकदेश से जानता है।

मनःपर्ययज्ञान— **'परकीयमनोगतोऽर्थो मनः, मनसः पर्यायाः विशेषाः मनःपर्यायाः, तान जानातीति मनःपर्ययज्ञानम्।'' एदं वयणं**

देसामासियं। कुदो? अचिंतियाणमद्धचिंतियाणं च अत्थाणमवगमादो। अधवा मणपज्जवसण्णा जेण रूढिभवा तेण चिंतिए वि अचिंतिए वि अत्थे वट्टमाणणाणविसया त्ति घेत्तव्वा। ओहिणाणं व एदं पि पच्चक्खं, अणिंदियजत्तादो।' [धवल पु० १३ पृ० २१२]

अर्थ—परकीय मन को प्राप्त हुए अर्थ का नाम मन है और मन की (मनोगत अर्थ की) पर्यायों अर्थात् विशेषों का नाम मनःपर्याय है। उन्हें जो जानता है वह मनःपर्यय ज्ञान है। यह वचन देशामर्षक है, क्योंकि इससे अचिन्तित और अर्धचिन्तित अर्थों का भी ज्ञान होता है। अथवा 'मनःपर्यय' यह संज्ञा रूढ़िजन्य है, इसलिये चिन्तित और अचिन्तित दोनों प्रकार के अर्थ में विद्यमान ज्ञान को विषय करने वाली यह संज्ञा है, ऐसा यहां ग्रहण करना चाहिये। अवधिज्ञान के समान यह ज्ञान भी प्रत्यक्ष है, क्योंकि यह इन्द्रियों से नहीं उत्पन्न होता।

'ऋजुविपुलमती मनःपर्ययः ॥१।२३॥' [तत्त्वार्थसूत्र]

अर्थ—ऋजुमति और विपुलमति के भेद से मनःपर्यय ज्ञान दो प्रकार का है।

ऋजुमति मनःपर्यय ज्ञान ऋजुमनोगत अर्थ को विषय करता है, ऋजुवचनगत अर्थ को विषय करता है और ऋजुकायगत अर्थ को विषय करता है [धवल पु०१३ पृ० ३२९ सूत्र ६२]। विपुलमति मनःपर्यय ज्ञान ऋजुमनोगत अर्थ को जानता है, अनृजुमनोगत अर्थ को जानता है, ऋजुवचनगत अर्थ को जानता है, अनृजुवचनगत अर्थ को जानता है, ऋजुकायगत अर्थ को जानता है और अनृजुकायगत अर्थ को जानता है। [धवल पु०१३ सूत्र ७० पृ० ३४०]

ऋजुमति मनःपर्यय ज्ञानी काल की अपेक्षा जघन्य से दो तीन भव और उत्कर्ष से सात और आठ भवों को जानता है, क्षेत्र की अपेक्षा जघन्य से आठ कोश भीतर की बात और उत्कर्ष से आठ योजन के भीतर की बात जानता है, बाहर की नहीं जानता। [धवल पु० १३ पृ० ३३८–३३९]

विपुलमति मनःपर्यय ज्ञान काल की अपेक्षा जघन्य से सात आठ भवों और उत्कर्ष से असंख्यात भवों को जानता है, क्षेत्र की अपेक्षा जघन्य से आठ

योजन और उत्कर्ष से मानुषोत्तरशैल अर्थात् ४५ लाख योजन के भीतर की बात को जानता है। [धवल पु० १३ पृ० ३४२–३४३]

केवलं सकलप्रत्यक्षं ॥३७॥

सूत्रार्थ—केवलज्ञान सकल प्रत्यक्ष है।

विशेषार्थ—चार घाति कर्मों का क्षय होने से केवलज्ञान उत्पन्न होता है। कहा भी है—

'मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम् ॥१०।१॥'

[तत्त्वार्थसूत्र]

अर्थ—मोहनीय कर्म के क्षय होने से, पुनः ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीनों घाति कर्मों का युगपत् क्षय होने से केवलज्ञान उत्पन्न होता है।

उस केवलज्ञान का विषय मूर्त-अमूर्त आदि सर्वद्रव्य और उनकी भूत, भविष्यत् और वर्तमान तीनों काल की सर्व पर्यायें है। कहा भी है—

'सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य ॥१।२९॥' [तत्त्वार्थसूत्र]

अर्थ—केवलज्ञान का विषय सर्वद्रव्य और सर्वपर्यायें हैं।

तक्कालिगेव सव्वे सदसब्भूदा हि पज्जया तासिं।
वट्टंते ते णाणे विसेसदो दव्वजादीणं ॥३७॥ [प्रवचनसार]

अर्थ—उन जीवादि समस्त द्रव्यों की सर्व विद्यमान पर्यायों को और अविद्यमान पर्यायों को तात्कालिक अर्थात् वर्तमान पर्याय की तरह विशेषता सहित ज्ञान अर्थात् केवलज्ञान जानता है।

इसकी टीका में श्री अमृतचन्द्र आचार्य ने इसका दृष्टान्त देते हुए कहा है—

'दृश्यते हि छद्मस्थस्यापि वर्तमानमिव व्यतीतमनागतं वा वस्तु चिन्तयतः संविदालंबितस्तदाकारः।'

अर्थ—जगत में देखा जाता है कि छद्मस्थों का ज्ञान भी जैसे वर्तमान वस्तु का चिंतवन करते हुए उसके आकार का अवलम्बन करता है उसी प्रकार

भूत और भविष्यत् वस्तु का चिंतवन करते हुए उसके आकार का अवलम्बन करता है।

श्री अनन्तवीर्य आचार्य ने भी प्रमेयरत्नमाला अध्याय २ सूत्र १२ की टीका में कहा है—

'कथमतीन्द्रियज्ञानस्य वैशद्यमिति चेत् ? यथा सत्यस्वप्नज्ञानस्य भावनाज्ञानस्य चेति। दृश्यते हि भावनाबलादेतद्देश वस्तुनोऽपि विशददर्शनमिति।'

अर्थ—अतीन्द्रिय ज्ञान के विशदता कैसे सम्भव है ? जैसे कि सत्य स्वप्न ज्ञान के और भावना (मानसिक) ज्ञान के विशदता सम्भव है। भावना के बल से दूरदेशवर्ती दूरकालवर्ती (अतीत, अनागत) वस्तु का भी विशद दर्शन पाया जाता है।

अर्थात् जिस प्रकार छद्मस्थ भी भावना या चिंतवन के बल से अतीत अनागत पर्यायों को स्पष्ट जान लेता है उसी प्रकार केवली भी केवलज्ञान के बल से अतीत अनागत पर्यायों को स्पष्ट जानते हैं। किन्तु अतीत और अनागत पर्यायें ज्ञान का विषय हो जाने मात्र से विद्यमान या सद्भाव रूप नहीं हो जातीं, क्योंकि छद्मस्थज्ञान भी और केवलज्ञान भी अविद्यमान (अतीत, अनागत) पर्यायों को अविद्यमान (अभाव) रूप से जानता है, इसका कारण यह है कि द्रव्य में मात्र वर्तमान पर्याय का सद्भाव रहता है और शेष पर्यायों का अभाव अर्थात् प्रागभाव या प्रध्वंसाभाव रहता है। सर्वथा अभाव नहीं है, क्योंकि वे शक्तिरूप से रहती हैं।

श्री वीरसेन आचार्य ने जयधवल में केवलज्ञान की निम्न प्रकार विशद व्याख्या की है—

'केवलमसहायं इन्द्रियालोकमनस्कारनिरपेक्षत्वात्। आत्मसहायमिति न तत्केवलमिति चेत् ? न, ज्ञानव्यतिरिक्तात्मनोऽसत्त्वात्। अर्थसहायत्वान्न केवलमिति चेत् ? न, विनष्टानुत्पन्नातीतानागतार्थेष्वपि तत्प्रवृत्त्युपलम्भात्। असति प्रवृत्तौ खरविषाणेऽपि प्रवृत्तिरस्त्विति चेत् ? न, तस्य भूतभविष्यच्छक्तिरूपतयाऽप्यसत्त्वात्। वर्तमानपर्या-

याणामेव किमित्यर्थत्वमिष्यत इति चेत्? न, 'अर्यते परिच्छिद्यते' इति न्यायतस्तत्रार्थत्वोपलम्भात्। तदनागतातीतपर्यायेष्वपि समानमिति चेत्? न, तद्ग्रहणस्य वर्तमानार्थग्रहणपूर्वकत्वात्। आत्मार्थव्यतिरिक्तसहायनिरपेक्षत्वाद्वा केवलमसहायम्। केवलं च तज्ज्ञानं च केवलज्ञानम्।' [जयधवल पु० १ पृष्ठ २१-२३]

अर्थ—असहाय ज्ञान को केवलज्ञान कहते हैं, क्योंकि वह इन्द्रिय, प्रकाश और मनस्कार की अपेक्षा से रहित है।

शंका—केवलज्ञान आत्मा की सहायता से होता है. इसलिये उसे केवल अर्थात् असहाय नहीं कह सकते ?

समाधान—नहीं, क्योंकि ज्ञान से भिन्न आत्मा का सत्त्व नहीं है, इसलिये केवलज्ञान असहाय है।

शंका—केवलज्ञान अर्थ की सहायता लेकर प्रवृत्त होता है इसलिये केवल अर्थात् असहाय नहीं है ?

समाधान—नहीं, नष्ट हुए अतीत पदार्थों में और अनुत्पन्न अनागत पदार्थों में केवलज्ञान की प्रवृत्ति पाई जाती है, इसलिये केवलज्ञान अर्थ की सहायता से नहीं होता।

शंका—यदि विनष्ट और अनुत्पन्नरूप असत् पदार्थों में केवलज्ञान की प्रवृत्ति होती है तो खरविषाण में भी उसकी प्रवृत्ति होनी चाहिये ?

समाधान—नहीं, क्योंकि खरविषाण का जिस प्रकार वर्तमान में सत्त्व नहीं पाया जाता है, उसी प्रकार उसका भूतशक्ति और भविष्यत्शक्तिरूप से भी सत्त्व नहीं पाया जाता, अतः उसमें केवलज्ञान की प्रवृत्ति नहीं होती है।

शंका—वर्तमान पर्यायों को ही अर्थ क्यों स्वीकार किया जाता है ? अर्थात् अतीत और अनागत पर्यायों को अर्थ क्यों नहीं माना जाता ?

समाधान—नहीं, क्योंकि 'जो जाना जाता है उसको अर्थ कहते हैं' इस व्युत्पत्ति के अनुसार वर्तमान पर्यायों में अर्थपना पाया जाता है।

शंका—वर्तमान पर्याय के समान अतीत और अनागत पर्यायों में भी यह व्युत्पत्ति-अर्थ पाया जाता है अर्थात् जिस प्रकार वर्तमान पर्यायें जानी जाती हैं उसी प्रकार अतीत और अनागत पर्यायें भी जानी जाती हैं, अतः अतीत और अनागत पर्यायों को भी अर्थ कहना चाहिये ?

समाधान—नहीं, क्योंकि अतीत और अनागत पर्यायों का ग्रहण (ज्ञान) वर्तमान अर्थ के ग्रहण पूर्वक होता है इसलिये अतीत, अनागत पर्यायों की 'अर्थ' संज्ञा स्वीकार नहीं की गई।

केवलज्ञान आत्मा और अर्थ से अतिरिक्त इन्द्रियादि की सहायता की अपेक्षा से रहित है, इसलिये भी वह केवल अर्थात् असहाय है। केवल अर्थात् असहाय जो ज्ञान है उसको केवलज्ञान समझना चाहिये।

[जयधवल पु० १ पृ० २१–२४]

जिस प्रकार से वर्तमान पर्याय की 'अर्थ' संज्ञा है यदि उसी प्रकार अतीत और अनागत पदार्थों की भी 'अर्थ' संज्ञा होती तो ज्ञेयों के परिणमन के कारण केवलज्ञान में परिणमन सम्भव नहीं हो सकता था। ज्ञेयों के परिणमन अनुसार केवलज्ञान में भी परिणमन होता है यह बात असिद्ध भी नहीं है, क्योंकि निम्न आर्षवाक्यों से यह सिद्ध है—

'ज्ञेयपदार्थाः प्रतिक्षणं भङ्गत्रयेण परिणमन्ति तथा ज्ञानमपि परिच्छित्त्यपेक्षया भङ्गत्रयेण परिणमति।' [प्रवचनसार गाथा १८ टीका]

अर्थ—जिस प्रकार ज्ञेय पदार्थों में प्रतिक्षण उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य होता रहता है उसी के अनुसार केवलज्ञान में भी जानने की अपेक्षा उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य होता रहता है।

'येन येनोत्पादव्ययध्रौव्यरूपेण प्रतिक्षणं ज्ञेयपदार्थाः परिणमन्ति तत्परिच्छित्त्याकारेणानीहितवृत्त्या सिद्धज्ञानमपि परिणमति तेन कारणेनोत्पादव्ययत्वम्।' [वृहद्द्रव्यसंग्रह गाथा १४ टीका]

अर्थ—ज्ञेय पदार्थ जिस जिस प्रकार उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य रूप से प्रतिक्षण परिणमन करते हैं, उसी उसी प्रकार से सिद्धों का केवलज्ञान भी उन उन ज्ञेय-

पदार्थों के जानने रूप आकार से विना इच्छा परिणमन करता है।

'ण च णाणविसेसदुवारेण उप्पज्जमाणस्स केवलणाणंसस्स केवलणाणत्तं फिट्टदि; पमेयवसेण परियत्तमाणसिद्धजीवणाणंसाणं पि केवलणाणत्ताभावप्पसंगादो।' [जयधवल पु० १ पृ० ५०-५१]

अर्थ—यदि कहा जाय कि केवलज्ञान का अंश ज्ञानविशेष रूप से उत्पन्न होता है, इसलिये उसका केवलज्ञानत्व ही नष्ट हो जाता है, सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर प्रमेय के निमित्त से परिवर्तन करने वाले सिद्धजीवों के ज्ञानांशों को भी केवलज्ञान के अभाव का प्रसंग प्राप्त होता है। अर्थात् यदि केवलज्ञान के अंश मतिज्ञानादि ज्ञानविशेष रूप से उत्पन्न होते हैं, इसलिये उनमें केवलज्ञान नहीं माना जा सकता है तो प्रमेयों के निमित्त से सिद्धजीवो के ज्ञान में परिवर्तन होता है, अतः सिद्धों का ज्ञान भी केवलज्ञान नहीं बनेगा।

'प्रतिक्षणं विवर्तमानानर्थानपरिणामि केवलं कथं परिछिनत्तीति चेन्न, ज्ञेयसमविपरिवर्तिनः केवलस्य तदविरोधात्।'

[धवल पु० १ पृ० १९८]

अर्थ—अपरिवर्तनशील केवलज्ञान प्रत्येक क्षण में परिवर्तनशील पदार्थों को कैसे जानता है ? ऐसी शंका ठीक नहीं है, क्योंकि ज्ञेय पदार्थों को जानने के लिये तदनुकूल परिवर्तन करने वाले केवलज्ञान के ऐसे परिवर्तन मान लेने में कोई विरोध नहीं आता है।

इस प्रकार जो पर्याये प्रतिक्षण उत्पन्न होती हैं उनको केवलज्ञान सद्भाव रूप से जानता है। और जो उत्पन्न होकर विनष्ट हो चुकी हैं या उत्पन्न नही हुई हैं उनको अभाव रूप से जानता है. अन्यथा ज्ञेयों के परिणमन के अनुकूल केवलज्ञान में परिणमन नहीं वन सकता।

मतिश्रुते परोक्षे ॥३८॥

अर्थ—मतिज्ञान और श्रुतज्ञान ये दो परोक्षज्ञान हैं।

विशेषार्थ—इन्द्रिय और मन की सहायता से मतिज्ञान की प्रवृत्ति होती

है। इसलिये मतिज्ञान परोक्ष है। कहा भी है—

'तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम् ।' [तत्त्वार्थसूत्र १/१४]

अर्थ—उस मतिज्ञान में इन्द्रियां और मन निमित्त होते हैं अर्थात् वह मतिज्ञान इन्द्रिय और मन की अपेक्षा रखता है।

'श्रुतं मतिपूर्वं ...।' [तत्त्वार्थसूत्र १/२०]

अर्थ—मतिज्ञान पूर्वक श्रुतज्ञान होता है।

इस प्रकार आत्मा से पर जो इन्द्रिय और मन, उनकी सहायता की अपेक्षा रखने से मति और श्रुत ये दोनों ज्ञान परोक्ष हैं।

'मतिश्रुतयोर्निबन्धो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु ।' [तत्त्वार्थसूत्र १/२६]

अर्थ—मतिज्ञान और श्रुतज्ञान का विषय सर्व द्रव्यों की असर्वपर्यायें है, अर्थात् द्रव्यों की त्रिकालवर्ती कुछ पर्यायों को मतिज्ञान और श्रुतज्ञान जानते हैं।

॥ इस प्रकार प्रमाण का स्वरूप कहा गया ॥

नयाधिकार

तदवयवा नयाः ॥३९॥

सूत्रार्थ—प्रमाण के अवयव नय हैं।

विशेषार्थ—आगे सूत्र १८१ में 'प्रमाणेन वस्तुसंगृहीतार्थैकांशो नयः।' इन शब्दों द्वारा यह कहा गया है कि जो प्रमाण के द्वारा ग्रहण की हुई वस्तु के एक अंश को ग्रहण करे वह नय है। इसी बात को श्री वीरसेन आचार्य ने धवल पु० १ पृ० ८३ पर कहा है—

'प्रमाणपरिगृहीतार्थैकदेशे वस्त्वध्यवसायो नयः।'

अर्थ—प्रमाण के द्वारा ग्रहण की गई वस्तु के एक अंश में वस्तु का निश्चय करने वाला ज्ञान नय है।

नय के इस लक्षण से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रमाण के अवयव नय हैं। सूत्र १८१ में नय का लक्षण विभिन्न प्रकार से कहा गया है।

नयभेदा उच्यन्ते ॥४०॥

सूत्रार्थ—नय के भेदों को कहते हैं।

णिच्छयववहारणया मूलमभेया णयाण सव्वाणं।
णिच्छयसाहणहेऊ[1] दव्वयपज्जत्थिया[2] मुणह ॥४॥

गाथा अर्थ—सम्पूर्ण नयों के निश्चयनय और व्यवहारनय ये दो मूल-भेद हैं। निश्चय का हेतु द्रव्यार्थिक नय है और साधन का हेतु अर्थात् व्यवहार का हेतु पर्यायार्थिक नय है।

विशेषार्थ—निश्चय नय द्रव्य में स्थित है और व्यवहारनय पर्याय में स्थित है। श्री अमृतचन्द्र आचार्य ने भी समयसार गाथा ५६ की टीका में **'व्यवहारनयः किल पर्यायाश्रित्वात्' 'निश्चयनयस्तु द्रव्याश्रित्वात्'** इन शब्दों द्वारा यह बतलाया है कि व्यवहारनय पर्याय के आश्रय है और निश्चयनय द्रव्य के आश्रय है। अर्थात् निश्चयनय का विषय द्रव्य है और व्यवहारनय का विषय पर्याय है।

ववहारो य वियप्पो भेदो तह पज्जओ त्ति एयट्ठो ॥५७२॥

[गो० जी०]

'व्यवहारेण विकल्पेन भेदेन पर्यायेण।' [समयसार गा० १२ टीका]

अर्थात्—व्यवहार, विकल्प, भेद और पर्याय ये सब एकार्थवाची शब्द हैं।

क्योंकि निश्चयनय का विषय द्रव्य है और व्यवहारनय का विषय पर्याय है, इसलिये यह कहा गया है कि निश्चय का हेतु द्रव्यार्थिक नय है और व्यवहार का हेतु पर्यायार्थिक नय है।

आगे सूत्र २०४ में बतलाया है कि अभेद और अनुपचार रूप से जो वस्तु का निश्चय करे वह निश्चयनय है। सूत्र २०५ में बतलाया है कि भेद और उपचार से जो वस्तु का व्यवहार करे सो व्यवहार नय है।

इस प्रकार नय के मूलभेद दो हैं (१) निश्चयनय (२) व्यवहारनय अथवा

---

१. 'णिच्छयसाहणहेओ' इति पाठांतरम्। २. 'पज्जयदव्वत्थियं' इति पाठांतरम् [नयचक्र]।

(१) द्रव्यार्थिक नय (२) पर्यायार्थिक नय। इन दोनों नयों के आश्रय से ही भगवान् का उपदेश हुआ है। कहा भी है—

'द्वौ हि नयौ भगवता प्रणीतौ द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकश्च। तत्र न खल्वेकनयायत्ता देशना किंतु तदुभयायत्ता।'

[पंचास्तिकाय गाथा ४ टीका]

अर्थ—भगवान ने दो नय कहे हैं—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। वहां कथन एक नय के अधीन नहीं होता, किन्तु दोनों नयों के अधीन होता है।

द्रव्यार्थिकः, पर्यायार्थिकः. नैगमः, संग्रहः, व्यवहारः, ऋजुसूत्रः, शब्दः, समभिरूढः, एवंभूत इति नव नयाः स्मृताः ॥४१॥

सूत्रार्थ—द्रव्यार्थिक नय, पर्यायार्थिक नय, नैगम नय, संग्रह नय, व्यवहार नय, ऋजुसूत्र नय, शब्द नय, समभिरूढ नय, एवंभूत नय ये नव नय माने गये हैं ॥४६॥

विशेषार्थ—इन नयों का स्वरूप इस प्रकार है—

द्रव्यार्थिक नय—द्रव्य जिसका प्रयोजन है वह द्रव्यार्थिक नय है। [सर्वार्थसिद्धि १/६]। द्रव्य का अर्थ सामान्य, उत्सर्ग और अनुवृत्ति है, इस को विषय करने वाला नय द्रव्यार्थिक नय है [सर्वार्थसिद्धि १/३३]। जो उन उन पर्यायों को प्राप्त होता है, प्राप्त होगा अथवा प्राप्त हुआ था वह द्रव्य है। द्रव्य ही जिसका प्रयोजन है, वह द्रव्यार्थिक नय है [धवल पु. १ पृ. ८३]।

आगे सूत्र १८४ में भी द्रव्यार्थिक नय का लक्षण इसी प्रकार कहा है।

पर्यायार्थिक नय—'पर्याय एवार्थः प्रयोजनमस्येति पर्यायार्थिकः ॥१६१॥' [आलापपद्धति] [सर्वार्थसिद्धि १/६]। अर्थात्—पर्याय ही जिस नय का प्रयोजन है, वह पर्यायार्थिक नय है। पर्याय का अर्थ विशेष, अपवाद और व्यावृत है, इसको विषय करने वाला पर्यायार्थिक नय है [सर्वार्थसिद्धि १/३३]। अथवा 'परि' जो कालकृत भेद को प्राप्त होता है उसे

पर्याय कहते हैं। वह पर्याय जिस नय का प्रयोजन है वह पर्यायार्थिक नय है।

[धवल पु० १ पृ० ८४]

तित्थयर-वयण संगह-विसेस-पत्थार-मूल-वायरणी।
दव्वट्ठिओ य पज्जय-णयो य सेसा वियप्पा सिं॥

[धवल पु० १ पृ० १२]

अर्थ—तीर्थंकरों के वचनों के सामान्य प्रस्तार का मूल व्याख्यान करने वाला द्रव्यार्थिक नय है और इन्हीं वचनों के विशेष प्रस्तार का मूल व्याख्याता पर्यायार्थिक नय है। शेष सभी नय इन दोनों नयों के विकल्प अर्थात् भेद हैं।

'द्रव्यार्थिक नयः स त्रिविधो नैगम-संग्रह-व्यवहारभेदेन।' 'पर्यायार्थिको नयश्चतुर्विधः ऋजुसूत्र-शब्द-समभिरूढैवंभूतभेदेन।'

[धवल पु० ६ पृ० १६० व १७१]

अर्थ—द्रव्यार्थिक नय है, वह नैगम, संग्रह और व्यवहार के भेद से तीन प्रकार है। पर्यायार्थिक नय ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवंभूत के भेद से चार प्रकार का है।

ऋजुसूत्र नय अर्थनय है और शब्द, समभिरूढ, एवंभूत ये तीन, व्यञ्जन नय हैं, क्योंकि इनमें शब्द की मुख्यता है। कहा भी है—

'पर्यायार्थिको द्विविधः, अर्थनयो व्यञ्जननयश्चेति।'

[धवल पु० १ पृ० ८५]

नैगमनय :—'नैकं गच्छतीति निगमः, निगमो विकल्पः' जो एक को ही प्राप्त नहीं होता अर्थात् अनेक को प्राप्त होता है, वह निगम है। निगम का अर्थ विकल्प है। जो विकल्प को ग्रहण करे, वह नैगम नय है।[1] अनिष्पन्न अर्थ में संकल्पमात्र को ग्रहण करने वाला नय नैगम है। यथा हाथ में फरसा लेकर जाते हुए किसी पुरुष को देखकर कोई अन्य पुरुष पूछता है—आप किस काम के लिये जा रहे हैं? वह कहता है—प्रस्थ लेने के लिये जा रहा हूँ। यद्यपि उस समय वह प्रस्थ पर्याय सन्निहित नहीं है, तथापि प्रस्थ बनाने के संकल्प

१. आलापपद्धति सूत्र १९६।

मात्र से उसमें प्रस्थ व्यवहार किया गया है। तथा ईंधन और जल आदि के लाने में लगे हुए किसी पुरुष से कोई पूछता है कि आप क्या कर रहे हैं? उसने कहा—भात पका रहा हूँ। उस समय भात पर्याय सन्निहित नहीं है, केवल भात के लिये किये गये व्यापार में भात का प्रयोग किया गया है। इस प्रकार का जितना व्यवहार अनिष्पन्न अर्थ के अवलम्बन से संकल्प मात्र को विषय करता है वह सब नैगम नय का विषय है। [सर्वार्थसिद्धि १/३३]

संग्रह नय:—जो नय अभेद रूप से सम्पूर्ण वस्तु समूह को विषय करता है वह संग्रह नय है।[1]

भेद सहित सब पर्यायों को अपनी जाति के अविरोध द्वारा एक मानकर सामान्य से सब को ग्रहण करने वाला नय संग्रह नय है। यथा—सत्, द्रव्य और घट आदि। 'सत्' कहने पर सत् इस प्रकार के वचन और विज्ञान की अनुवृत्ति रूप लिंग से अनुमित सत्ता के आधारभूत सब पदार्थों का सामान्य रूप से संग्रह हो जाता है। 'द्रव्य' ऐसा कहने पर भी 'उन उन पर्यायों को द्रवता है, प्राप्त होता है' इस प्रकार इस व्युत्पत्ति से युक्त जीव, अजीव और उनके सब भेद प्रभेदों का संग्रह हो जाता है। तथा 'घट' ऐसा कहने पर घट, इस प्रकार की बुद्धि और घट, इस प्रकार के शब्द की अनुवृत्ति रूप लिंग से अनुमित सब घट पदार्थों का संग्रह हो जाता है। [सर्वार्थसिद्धि १/३३]

व्यवहारनय—संग्रह नय से ग्रहण किये हुए पदार्थ को भेद रूप से व्यवहार करता है, ग्रहण करता है, वह व्यवहार नय है।[2]

संग्रह नय के द्वारा ग्रहण किये गये पदार्थों का विधिपूर्वक अवहरण अर्थात् भेद करना व्यवहारनय है। सर्व संग्रह नय के द्वारा जो वस्तु ग्रहण की गई है, वह अपने उत्तर भेदों के विना व्यवहार कराने में असमर्थ है, इस लिये व्यवहारनय का आश्रय लिया जाता है। यथा—संग्रह नय का विषय जो द्रव्य है, वह जीव अजीव की अपेक्षा किये विना व्यवहार कराने में असमर्थ है, इसलिये जीव द्रव्य है और अजीव द्रव्य है, इस प्रकार के व्यवहार का

१. आलापपद्धति सूत्र १९७। २. आलापपद्धति सूत्र १९८।

आश्रय लिया जाता है। जीव द्रव्य और अजीव द्रव्य भी जब तक संग्रहनय के विषय रहते हैं तब तक वे व्यवहार कराने में असमर्थ हैं, इसलिये व्यवहार से जीव द्रव्य के देव नारकी आदि रूप और अजीव द्रव्य के घटादि रूप भेदों का आश्रय लिया जाता है। इस प्रकार इस नय की प्रवृत्ति वहां तक होती है जहां तक वस्तु में फिर कोई विभाग करना सम्भव नहीं रहता। [सर्वार्थसिद्धि १/३३]। इस व्यवहार नय में कालकृत भेद नहीं होता है।

ऋजुसूत्र नय—जो नय सरल को सूत्रित करता है अर्थात् ग्रहण करता है वह ऋजुसूत्र नय है।[1]

ऋजुसूत्र नय अतीत और अनागत तीनों कालों के विषयों को ग्रहण न करके वर्तमान काल के विषयभूत पदार्थों को ग्रहण करता है, क्योंकि अतीत के विनष्ट और अनागत के अनुत्पन्न होने से उनमें व्यवहार नहीं हो सकता। वह वर्तमान काल समय मात्र है और उसके विषयभूत पर्यायमात्र को विषय करने वाला ऋजुसूत्र नय है [सर्वार्थसिद्धि १/३३]।

ऋजुसूत्र नय का विषय पच्यमान पक्व है। जिसका अर्थ कथंचित् पच्यमान और कथंचित् उपरतपाक होता है। जितने अंश में वह पक चुकी है उसकी अपेक्षा वह वस्तु पक्व अर्थात् कथंचित् उपरतपाक है और अन्तिम पाक की समाप्ति का अभाव होने की अपेक्षा अर्थात् पूरा पाक न हो सकने की अपेक्षा वही वस्तु पच्यमान भी है ऐसा सिद्ध होता है। इसी प्रकार क्रियमाण-कृत, भुज्यमान-भुक्त, बध्यमान-बद्ध और सिद्ध्यत्-सिद्ध आदि व्यवहार भी घटित हो जाता है। [जयधवल पु० १ पृ० २२३–२२४]

ऋजुसूत्र नय की अपेक्षा जिस समय प्रस्थ से धान्य मापे जाते हैं, उसी समय वह प्रस्थ है। इस नय की दृष्टि में 'कुंभकार' संज्ञा भी नहीं बन सकती. क्योंकि शिवक आदि पर्यायों को करने से उनके कर्ता को 'कुंभकार' यह संज्ञा नहीं दी जा सकती। ठहरे हुए किसी पुरुष से 'आप कहां से आ रहे हो' इस प्रकार प्रश्न होने पर 'कहीं से भी नहीं आ रहा हूँ' इस प्रकार यह ऋजुसूत्र नय मानता है, क्योंकि जिस समय प्रश्न किया गया उस समय आगमन

१. आलापपद्धति सूत्र १९९।

रूप क्रिया नहीं पाई जाती। [जयधवल पु० १ पृ० २२५]

तथा इस ऋजुसूत्र नय की दृष्टि में 'काक कृष्ण होता है' यह व्यवहार भी नहीं वन सकता है, क्योंकि जो कृष्ण है वह कृष्णरूप ही है, काकरूप नहीं है। यदि कृष्ण को काकरूप माना जाय तो भ्रमर आदिक को भी काकरूप मानने की आपत्ति प्राप्त होती है। उसी प्रकार काक भी काकरूप ही है कृष्णरूप नहीं है, क्योंकि यदि काक को कृष्णरूप माना जाय तो काक के पीले पित्त सफेद हड्डी और लाल रुधिर आदिक को भी कृष्णरूप मानने की आपत्ति प्राप्त होती है। [जयधवल पु० १ पृ० २२६]

इस ऋजुसूत्र नय की दृष्टि से विशेषण-विशेष्य भाव भी नहीं बनता है, क्योंकि भिन्न दो पदार्थों में तो विशेषण-विशेष्य भाव बन नहीं सकता, क्योंकि भिन्न दो पदार्थों में विशेषण-विशेष्य भाव मानने पर अव्यवस्था की आपत्ति प्राप्त होती है, अर्थात् जिन किन्हीं दो पदार्थों में भी विशेषण-विशेष्य भाव हो जायगा। उसी प्रकार अभिन्न दो पदार्थों में विशेषण-विशेष्य भाव नहीं बन सकता, क्योंकि अभिन्न दो पदार्थों का अर्थ एक पदार्थ ही होता है और एक पदार्थ में विशेषण-विशेष्य भाव के मानने में विरोध आता है।

[जयधवल पु० १ पृ० २२६]

इस ऋजुसूत्र नय की दृष्टि में संयोग अथवा समवाय सम्बन्ध नहीं बनता है। इसीलिये सजातीय और विजातीय दोनों प्रकार की उपाधियों से रहित केवल शुद्ध परमाणु ही है, अतः जो स्तंभादिकरूप स्कन्धों का प्रत्यय होता है वह ऋजुसूत्र नय की दृष्टि में भ्रान्त है। तथा वह परमाणु निरवयव है, क्योंकि परमाणु के ऊर्ध्वभाग, अधोभाग और मध्यभाग आदि अवयवों के मानने पर अनवस्था दोष की आपत्ति प्राप्त होती है और परमाणु को अपरमाणुपने का प्रसंग प्राप्त होता है। [जयधवल पु० १ पृ० २३०]

इस ऋजुसूत्र नय की दृष्टि में बन्ध्य-बन्धक भाव, वध्य-घातक भाव, दाह्य-दाहकभाव और संसारादि कुछ भी नहीं बन सकते।

[जयधवल पु० १ पृ० २२८]

इस ऋजुसूत्र नय की दृष्टि में ग्राह्य-ग्राहकभाव भी नहीं बनता है। ज्ञान

से असंवद्ध अर्थ का तो ग्रहण होता नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर अव्यवस्था दोष की आपत्ति प्राप्त होती है। अर्थात् असम्वद्ध अर्थ का ग्रहण मानने पर किसी भी ज्ञान से किसी भी पदार्थ का ग्रहण हो जायगा। तथा ज्ञान से सम्वद्ध अर्थ का भी ग्रहण नहीं होता है, क्योंकि वह ग्रहण काल में रहता नहीं है। यदि कहा जाय कि अतीत होने पर भी उसका ज्ञान के साथ कार्य-कारणभाव सम्बन्ध पाया जाता है, अतः उसका ग्रहण हो जायगा; सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर चक्षुइन्द्रिय से व्यभिचार दोष आता है। अर्थात् पदार्थ की तरह चक्षुइन्द्रिय से भी ज्ञान का कार्यकारण सम्बन्ध पाया जाता है, फिर भी ज्ञान चक्षु को नहीं जानता है।

[जयधवल पु० १ पृ० २३०–२३१]

इस ऋजुसूत्र नय की दृष्टि में वाच्य-वाचक भाव भी नही होता है। इस *प्रकार इस नय की दृष्टि में सकल व्यवहार का उच्छेद होता है।*

[जयधवल पु० १ पृ० २३२]

शब्दनय—जो नय शब्द अर्थात् व्याकरण से, प्रकृति और प्रत्यय के द्वारा सिद्ध अर्थात् निष्पन्न शब्द को मुख्यकर विषय करता है वह शब्द नय है।[1]

'शपति' अर्थात् जो पदार्थ को बुलाता है अर्थात् पदार्थ को कहता है या उसका निश्चय कराता है वह शब्दनय है। यह शब्दनय लिंग, संख्या, काल, कारक, पुरुष और उपग्रह के व्यभिचार को दूर करता है। पुल्लिग के स्थान में स्त्रीलिंग का और स्त्रीलिंग के स्थान में पुल्लिग का कथन करना आदि लिंग-व्यभिचार है। जैसे—'तारका स्वातिः' स्वाति नक्षत्र तारका है। यहां पर तारका शब्द स्त्रीलिंग और स्वाति शब्द पुल्लिग है; अतः स्त्रीलिंग शब्द के स्थान पर पुल्लिग शब्द का कथन करने से लिंग-व्यभिचार है अर्थात् तारका शब्द स्त्रीलिंग है उसके साथ में पुल्लिग स्वाति शब्द का प्रयोग किया गया है जो व्याकरण अनुसार ठीक नहीं है। एकवचन आदि के स्थान पर द्विवचन आदि का कथन करना संख्या-व्यभिचार है। जैसे 'नक्षत्रं पुनर्वसू' पुनर्वसू

१. आलापपद्धति सूत्र २००।

नक्षत्र हैं। यहां पर नक्षत्र शब्द एकवचनान्त और पुनर्वसू शब्द द्विवचनान्त है, इसलिये एकवचन के साथ में द्विवचन का कथन करने से संख्या-व्यभिचार है। भूत आदि काल के स्थान में भविष्यत् आदि काल का कथन करना काल-व्यभिचार है। जैसे—'विश्वदृश्वास्य पुत्रो जनिता' जिसने समस्त विश्व को देख लिया है ऐसा इसको पुत्र होगा। यहां पर 'विश्वदृश्वा' शब्द भूत-कालीन है और 'जनिता' यह भविष्यत्कालीन है। अतः भविष्य अर्थ के विषय में भूतकालीन प्रयोग करना काल-व्यभिचार है। एक कारक के स्थान पर दूसरे कारक के प्रयोग करने को साधन-व्यभिचार कहते हैं। उत्तमपुरुष के स्थान पर मध्यमपुरुष और मध्यमपुरुष के स्थान पर उत्तमपुरुष आदि के प्रयोग करने को पुरुष-व्यभिचार कहते हैं।

इस प्रकार जितने भी लिङ्ग आदि व्यभिचार हैं वे सभी अयुक्त हैं, क्योंकि अन्य अर्थ का अन्य अर्थ के साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता। इसलिये जैसा लिंग हो, जैसी संख्या हो और जैसा साधन हो उसी के अनुसार शब्दों का कथन करना उचित है। [जयधवल पु० १ पृ० २३५–२३७]

समभिरूढ़नयः—आगे सूत्र २०१ में कहेंगे '**परस्परेणाभिरूढाः समभिरूढाः। शब्दभेदेऽप्यर्थभेदो नास्ति, यथा शक्र इन्द्रः पुरंदर इत्यादयः समभिरूढाः।**' परस्पर में अभिरूढ शब्दों को ग्रहण करने वाला नय समभिरूढ़ नय कहलाता है। इस नय के विषय में शब्द-भेद रहने पर भी अर्थ-भेद नहीं है, जैसे शक्र, इन्द्र और पुरंदर ये तीनों ही शब्द देवराज के पर्यायवाची होने से देवराज में अभिरूढ हैं। किन्तु शोलापुर से प्रकाशित नयचक्र पृ० १८ पर लिखा है—'**शब्दभेदेऽप्यर्थभेदो भवत्येवेति**' अर्थात् शब्द-भेद होने पर अर्थ-भेद होता ही है। जयधवल में भी इस प्रकार कहा है—

शब्दभेद से जो नाना अर्थों में अभिरूढ़ है अर्थात् जो शब्दभेद से अर्थभेद मानता है वह समभिरूढ़नय है। जैसे एक ही देवराज इन्दनक्रिया का कर्ता होने से अर्थात् आज्ञा और ऐश्वर्य आदि से युक्त होने के कारण इन्द्र कहलाता है और वही देवराज शकनात् अर्थात् सामर्थ्यवाला होने के कारण शक्र कह-

लाता है तथा वही देवराज पुर अर्थात् नगरों को दारण अर्थात् विभाग करने वाला होने के कारण पुरन्दर कहलाता है। ये तीनों शब्द भिन्न भिन्न अर्थ से सम्बन्ध रखते हैं, इसलिये एक अर्थ के वाचक नहीं हैं। आशय यह है कि अर्थभेद के विना पदों में भेद बन नहीं सकता है, इसलिये पदभेद से अर्थभेद होना ही चाहिये, इस अभिप्राय को स्वीकार करने वाला समभिरूढ़ नय है।
[जयधवल पु० १ पृ० २३९]

इस समभिरूढ़ नय में पर्यायवाची शब्द नहीं पाये जाते हैं, क्योंकि यह नय प्रत्येक पद का भिन्न अर्थ स्वीकार करता है। इस नय की दृष्टि में दो शब्द एक अर्थ में रहते हैं ऐसा मानना भी ठीक नहीं है, क्योंकि भिन्न दो शब्दों का एक अर्थ में सद्भाव मानने में विरोध आता है। यदि कहा जाय कि उन दोनों शब्दों में समान शक्ति पाई जाती है, इसलिये वे एक अर्थ में रहते हैं, सो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि यदि दो शब्दों में सर्वथा समान शक्ति मानी जाय तो फिर वे दो नहीं रहेंगे, एक हो जायेंगे। इसलिये जब वाचक शब्दों में भेद पाया जाता है तो उनके वाच्यभूत अर्थ में भेद होना ही चाहिये। [जयधवल पु० १ पृ० २४०]

श्री पूज्यपाद आचार्य ने सर्वार्थसिद्धि में इस प्रकार कहा है—

नाना अर्थों का समभिरोहण करने वाला समभिरूढ़ नय है। क्योंकि जो नाना अर्थों को 'सम' अर्थात् छोड़कर प्रधानता से एक अर्थ में रूढ़ होता है वह समभिरूढ नय है। जैसे 'गो' इस शब्द के वचन आदि अनेक अर्थ पाये जाते हैं, तथापि वह 'पशु' अर्थ में रूढ़ है। अथवा अर्थ का ज्ञान कराने के लिये शब्दों का प्रयोग किया जाता है। एक अर्थ का ज्ञान एक शब्द के द्वारा हो जाता है, अतः इस नय की दृष्टि में पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग निरर्थक है। यदि शब्दों में भेद है तो अर्थभेद अवश्य है। इस प्रकार नाना अर्थों का समभिरोहण करने वाला समभिरूढ नय है। जैसे इन्द्र, शक्र और पुरन्दर ये तीन शब्द होने से इनके अर्थ भी तीन हैं। इन्द्र का अर्थ ऐश्वर्यवान् है, शक्र का अर्थ सामर्थ्यवान् है, पुरन्दर का अर्थ नगर का विभाग करने वाला है।
[सर्वार्थसिद्धि १/३३]

एवंभूत नय—जिस नय में वर्तमान क्रिया की प्रधानता होती है वह एवंभूत नय है।[1]

जिस शब्द का जिस क्रियारूप अर्थ है तद्रूप क्रिया से परिणत समय में ही उस शब्द का प्रयोग करना युक्त है, अन्य समय में नहीं, ऐसा जिस नय का अभिप्राय है वह एवंभूत नय है। इस नय में पदों का समास नहीं होता है, क्योंकि जो स्वरूप और काल की अपेक्षा भिन्न हैं उनको एक मानने में विरोध आता है। यदि कहा जाय कि पदों में एककालवृत्ति रूप समास पाया जाता है सो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि पद क्रम से ही उत्पन्न होते हैं और वे जिस क्षण में उत्पन्न होते है, उसी क्षण में विनष्ट हो जाते हैं, इसलिये अनेक पदों का एक काल में रहना नहीं वन सकता। तथा इस नय में जिस प्रकार पदों का समास नहीं वन सकता है, उसी प्रकार घ, ट आदि वर्णों का भी समास नहीं बन सकता, क्योंकि अनेक पदों के समास मानने में जो दोप कह आये हैं, वे सव दोप अनेक वर्णों के समास मानने में भी प्राप्त होते हैं। इसलिये एवंभूत नय की दृष्टि में एक ही वर्ण एक अर्थ का वाचक है। [जयधवल पु० १ पृ० २४२]

उपनयाश्च कथ्यन्ते ॥४२॥

सूत्रार्थ—अव उपनयों का कथन करते हैं।

उपनय के लक्षण कथन करने के लिये सूत्र कहते हैं।

नयानां समीपा उपनयाः ॥४३॥

सूत्रार्थ—जो नयों के समीप में रहें वे उपनय हैं।

विशेपार्थ—'आत्मन उपसमीपे प्रमाणादीनां वा तेषामुपसमीपे नयतीत्युपनयः।' [संस्कृत नय चक्र पृ० ४५] अर्थात् जो आत्मा के या उन प्रमाणादिकों के अत्यन्त निकट पहुंचाता है वह उपनय है।

यह उपनय भी वस्तु के यथार्थ धर्म का कथन करता है, अयथार्थ धर्म का कथन नहीं करता, इसलिये इसके द्वारा भी वस्तु का यथार्थ वोध होता है।

१. आलापपद्धति सूत्र २०२।

उपनय के भेदों का कथन करने के लिये आगे का सूत्र कहा जाता है—

सद्भूतव्यवहारः असद्भूतव्यवहारः उपचरितासद्भूतव्यवहारश्चेत्युपनयास्त्रेधा ॥४४॥

अर्थ—सद्भूत-व्यवहार, असद्भूतव्यवहार और उपचरित-असद्भूत-व्यवहार ऐसे उपनय के तीन भेद होते हैं।

विशेषार्थ—'भेदोपचारतया वस्तु व्यवह्रियत इति व्यवहारः।'[1] द्वन्द्व समास की अपेक्षा इस सूत्र का अर्थ होता है—भेद और उपचार के द्वारा जो वस्तु का व्यवहार होता है वह व्यवहार नय है। जो भेद के द्वारा वस्तु का व्यवहार करे वह सद्भूत-व्यवहार नय है और जो उपचार के द्वारा वस्तु का व्यवहार करे वह असद्भूत-व्यवहार नय है।

संज्ञा, संख्या, लक्षण, प्रयोजन की अपेक्षा गुण और गुणी में भेद करने वाली नय सद्भूत-व्यवहार नय है।[2] इसी प्रकार पर्याय-पर्यायी में, स्वभाव-स्वभावी में, कारक-कारकी में भी भेद करना सद्भूत व्यवहार नय है।[3] जैसे उष्ण स्वभाव और अग्नि स्वभावी में भेद करना तथा मृतपिंड की शक्ति-विशेष कारक में और मृतपिंड कारकी में भेद करना। ये सब सद्भूतव्यवहार नय के दृष्टान्त हैं।

अन्यत्र प्रसिद्ध धर्म (स्वभाव) का अन्यत्र समारोप करने वाली असद्भूत-व्यवहार नय है।[4] जैसे पुद्गल आदि में जो धर्म (स्वभाव) है उसका जीवादि में समारोप करना। इसके नौ भेद हैं—१. द्रव्य में द्रव्य का उपचार, २. पर्याय में पर्याय का उपचार, ३. गुण में गुण का उपचार, ४. द्रव्य में गुण का उपचार, ५. द्रव्य में पर्याय का उपचार, ६. गुण में द्रव्य का उपचार, ७. गुण में पर्याय का उपचार, ८. पर्याय में द्रव्य का उपचार, ९. पर्याय में गुण का उपचार। यह नौ प्रकार का उपचार असद्भूत-व्यवहारनय का विषय है।[5] जैसे—१. पुद्गल में जीव का उपचार अर्थात् पृथ्वी आदि पुद्गल में

१. आलापपद्धति सूत्र २०५। २. आलापपद्धति सूत्र २०६। ३. आलापपद्धति सूत्र २०९। ४. आलापपद्धति सूत्र २०७। ५. आलापपद्धति सूत्र २१०

एकेन्द्रिय जीव का उपचार। २. दर्पणरूप पर्याय में अन्य पर्यायरूप प्रतिबिंब का उपचार। किसी के प्रतिबिंब को देखकर जिसका वह प्रतिबिंब है उसको उस प्रतिबिंबरूप बतलाना। ३. मतिज्ञान मूर्त है—यहां विजाति ज्ञानगुण में विजाति मूर्तगुण का आरोपण है। ४. जीव-अजीव ज्ञेय अर्थात् ज्ञान के विषयक हैं। यहां जीव-अजीव द्रव्य में ज्ञानगुण का उपचार है। ५. परमाणु बहुप्रदेशी है अर्थात् परमाणु पुद्गल द्रव्य में बहुप्रदेशी पर्याय का उपचार है। ६. श्वेत प्रसाद। यहां पर श्वेत गुण में प्रसाद द्रव्य का आरोप किया गया है। ७. ज्ञानगुण के परिणमन में ज्ञान-पर्याय का ग्रहण, गुण में पर्याय का आरोपण है। ८. स्कंध को पुद्गल द्रव्य कहना, पर्याय में द्रव्य का उपचार है। ९. इसका शरीर रूपवान है। यहां पर शरीर रूप पर्याय में 'रूपवान' गुण का उपचार किया गया है।[1]

मुख्य के अभाव में प्रयोजनवश या निमित्तवश जो उपचार होता है वह उपचरित-असद्भूत-व्यवहारनय है।[2] जैसे मार्जार (बिलाव) को सिंह कहना। यहां पर मार्जार और सिंह में सादृश्य सम्बन्ध के कारण मार्जार में सिंह का उपचार किया गया है, क्योंकि सम्बन्ध के बिना उपचार नहीं हो सकता। जैसे चूहे आदि में सिंह का उपचार नहीं किया जा सकता। वह सम्बन्ध अनेक प्रकार का है। जैसे—अविनाभाव सम्बन्ध, संश्लेष सम्बन्ध, परिणाम-परिणामी सम्बन्ध, श्रद्धा-श्रद्धेय सम्बन्ध, ज्ञान-ज्ञेय सम्बन्ध, चारित्र-चर्या सम्बन्ध इत्यादि। ये सब उपचरित-असद्भूत-व्यवहारनय के विषय हैं।[3] 'तत्त्वार्थ का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है' यह उपचरित-असद्भूत-व्यवहारनय का विषय है, क्योंकि यहां पर श्रद्धा-श्रद्धेय सम्बन्ध पाया जाता है। 'सर्वज्ञ' यह भी उपचरित-असद्भूत-व्यवहारनय का विषय है, ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध पाया जाता है, सर्व जो ज्ञेय उनका ज्ञायक सर्वज्ञ होता है। इत्यादि

इदानीमेतेषां भेदा उच्यन्ते ॥४५॥

सूत्रार्थ—अब उनके (नयों और उपनयों के) भेदों को कहते हैं।

---

१. टिप्पण सूत्र २१०। २. आलापपद्धति सूत्र २१२। ३. आलापपद्धति सूत्र २१३।

द्रव्यार्थिकस्य दश भेदाः ॥४६॥

सूत्रार्थ—द्रव्यार्थिक नय के दश भेद हैं।

द्रव्यार्थिक नय के दश भेदों का कथन दश सूत्रों द्वारा किया जाता है। उनमें से प्रथम तीन सूत्रों में शुद्ध द्रव्यार्थिक नय के तीन भेदों का कथन है—

१. कर्मोपाधिनिरपेक्षः शुद्धद्रव्यार्थिकः, यथा संसारी-जीवः सिद्धसदृक्शुद्धात्मा ॥४७॥

सूत्रार्थ—शुद्ध द्रव्यार्थिक नय का विषय कर्मोपाधि की अपेक्षा रहित जीव द्रव्य है, जैसे—संसारी जीव सिद्ध समान शुद्धात्मा है।

विशेषार्थ—यद्यपि संसारी जीव कर्मोपाधि सहित है तथापि शुद्ध द्रव्यार्थिक नय उस जीव को कर्मोपाधि से रहित सिद्ध जीव समान शुद्ध बतलाता है। यदि जीव सिद्ध समान शुद्धात्मा हो तो वह संसारी नहीं हो सकता और संसारी जीव सिद्ध समान शुद्धात्मा नहीं हो सकता, क्योंकि संसारी अवस्था जीव की अशुद्ध पर्याय है। सिद्ध अवस्था जीव की शुद्ध पर्याय है। एक समय में जीव की एक ही अवस्था रह सकती है। कर्मोपाधि अर्थात् कर्म बंध जीव की अशुद्धता का कारण है, क्योंकि अन्य द्रव्य के बंध बिना द्रव्य अशुद्ध नहीं हो सकता। कर्म-बंध के कारण ही जीव संसारी हो रहा है। फिर भी कर्म-बंध की अपेक्षा न करके उस संसारी जीव को (अशुद्धात्मा को) शुद्धात्मा बतलाना शुद्ध द्रव्यार्थिक नय का प्रथम भेद है। संसारी अवस्था की अपेक्षा से इस नय का विषय सत्य नहीं है तथापि शुद्ध द्रव्य की दृष्टि से इस नय का विषय सत्य है। प्राकृत नयचक्र में कहा भी है—

कम्माणं मज्झगयं जीवं जो गहइ सिद्ध संकासं।
भण्णइ सो सुद्धणओ खलु कम्मोवाहिणिरवेक्खो ॥१८॥

अर्थात्—कर्मों के बीच में पड़े हुए जीव को सिद्ध समान ग्रहण करने वाली नय कर्मोपाधि-निरपेक्ष-शुद्ध नय है।

२. उत्पादव्ययगौणत्वेन सत्ताग्राहकः शुद्धद्रव्यार्थिको यथा द्रव्यं नित्यम् ॥४८॥

सूत्रार्थ—उत्पाद-व्यय को गौण करके (अप्रधान करके) सत्ता (ध्रौव्य) को ग्रहण करने वाली शुद्ध द्रव्यार्थिक नय है। जैसे—द्रव्य नित्य है।

विशेषार्थ—द्रव्य का लक्षण उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य है।[1] तथा द्रव्य अनेकान्तात्मक अर्थात् नित्य-अनित्य-आत्मक है। किन्तु शुद्ध द्रव्यार्थिक नय उत्पाद-व्यय को अप्रधान करके मात्र ध्रौव्य को ग्रहण करके (नित्य-अनित्य-आत्मक) द्रव्य को नित्य बतलाती है। अनेकान्त दृष्टि में इस शुद्ध-द्रव्यार्थिक नय का विषय यथार्थ नहीं है तथापि एक धर्म को (अनित्य धर्म को) गौण करके नित्य धर्म को मुख्य करने से इस नय के विषय को सर्वथा अयथार्थ नहीं कहा जा सकता।

उप्पादवयं गौणं किच्चा जो गहइ केवला सत्ता।
भण्णइ सो सुद्धणओ इह सत्तागाहओ समए ॥१९॥ [नयचक्र]

अर्थात्—उत्पाद-व्यय को गौण करके मात्र ध्रुव को ग्रहण करने वाला नय आगम में सत्ताग्राहक शुद्ध नय है।

३. भेदकल्पनानिरपेक्षः शुद्धो द्रव्यार्थिको यथा निजगुण-पर्यायस्वभावाद् द्रव्यमभिन्नम् ॥४९॥

सूत्रार्थ—शुद्ध द्रव्यार्थिक नय भेदकल्पना की अपेक्षा से रहित है, जैसे—निज गुण से, निज पर्याय से और निज स्वभाव से द्रव्य अभिन्न है।

विशेषार्थ—यद्यपि संज्ञा, संख्या, लक्षण और प्रयोजन की अपेक्षा गुण और द्रव्य में, पर्याय और द्रव्य में तथा स्वभाव और द्रव्य में भेद है किन्तु प्रदेश की अपेक्षा गुण-द्रव्य में, पर्याय-द्रव्य में, स्वभाव-द्रव्य में भेद नहीं है अर्थात् अनेकान्त रूप से द्रव्य भेद-अभेद-आत्मक है।

शुद्ध द्रव्यार्थिक नय का विषय भेद नहीं है, मात्र अभेद है। भेद विवक्षा को गौण करके शुद्ध-द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा गुण-पर्याय-स्वभाव का द्रव्य से अभेद है, क्योंकि प्रदेश भेद नहीं है।

---

१. आलापपद्धति सूत्र ७।

गुणगुणियाइचउक्के अत्थे जो णो करेइ खलु भेयं ।
सुद्धो सो दव्वत्थो भेदवियप्पेण णिरवेक्खो ॥२०॥ [नयचक्र]

अर्थात्—गुण, गुणी आदि चार अर्थों (गुण, पर्याय, स्वभाव, द्रव्य) में भेद नही करने वाले नय को भेद-विकल्प-निरपेक्ष शुद्ध-द्रव्यार्थिक नय कहा गया है ।

तीन सूत्रों में अशुद्ध-द्रव्यार्थिक नय के तीन भेदों का कथन—

४. कर्मोपाधिसापेक्षोऽशुद्धद्रव्यार्थिको यथा क्रोधादि-कर्मजभाव आत्मा ॥५०॥

सूत्रार्थ—कर्मोपाधि की अपेक्षा सहित अशुद्ध जीव द्रव्य अशुद्ध-द्रव्यार्थिक-नय का विषय है, जैसे—कर्मजनित क्रोधादिभावरूप आत्मा है ।

विशेषार्थ—अशुद्ध-द्रव्यार्थिक नय का विषय अशुद्ध द्रव्य है । ससारी जीव अनादि काल से पौद्गलिक कर्मो से बंधा हुआ है इसलिये अशुद्ध है । संसारी जीव में कर्मजनित औदयिक भाव निरन्तर होते रहते है । वे औदयिक भाव जीव के स्वतत्त्व हैं।[1] क्रोधादि कर्मजनित औदयिकभावमयी आत्मा अशुद्ध-द्रव्यार्थिक नय का विषय है ।

भावेसु राययादी सव्वे जीवंमि जो दु जंपेदि ।
सोहु असुद्धो उत्तो कम्माणोवाहिसावेक्खो ॥२१॥ [नयचक्र]

अर्थात्—सब जीवों में रागादि भावों को कहने वाला जो नय है वह कर्मोपाधि-सापेक्ष अशुद्ध नय है ।

५. उत्पादव्ययसापेक्षोऽशुद्धद्रव्यार्थिको यथैकस्मिन् समये द्रव्यमुत्पादव्ययध्रौव्यात्मकम् ॥५१॥

सूत्रार्थ—उत्पाद-व्यय की अपेक्षा सहित द्रव्य अशुद्ध-द्रव्यार्थिक नय का विषय है, जैसे—एक ही समय में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक द्रव्य है ।

---

१. मोक्षशास्त्र २/१ ।

विशेषार्थ—शुद्ध-द्रव्यार्थिक नय का विषय मात्र ध्रौव्य है।[1] क्योंकि उत्पाद-व्यय पर्यायार्थिक नय का विषय है। द्रव्य का लक्षण सत् है और सत् का लक्षण उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यमयी है।[2] इस प्रकार द्रव्य का लक्षण उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूप है, किन्तु उत्पाद-व्यय पर्यायार्थिक नय का विषय होने के कारण उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक द्रव्य को—अशुद्ध द्रव्य को—अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय का विषय कहा है।

उप्पादवयविमिस्सा सत्ता गहिऊण भणइ तिदयत्तं।
दव्वस्स एयसमये जो हु असुद्धो हवे विदिओ ॥२२॥ [नयचक्र]

अर्थात्—उत्पाद-व्यय मिश्रित ध्रुव अर्थात् एक समय में इन तीन मयी द्रव्य को ग्रहण करने वाला दूसरा अशुद्ध नय है।

६. भेदकल्पनासापेक्षोऽशुद्धद्रव्यार्थिको यथात्मनो दर्शन-ज्ञानादयोगुणाः ॥५२॥

सूत्रार्थ—भेदकल्पना-सापेक्ष द्रव्य अशुद्ध-द्रव्यार्थिक नय का विषय है, जैसे—आत्मा के ज्ञान-दर्शनादि गुण हैं।

विशेषार्थ—आत्मा एक अखण्ड द्रव्य है, उसमें ज्ञान-दर्शन आदि गुण नहीं हैं, ऐसा शुद्ध द्रव्यार्थिक नय का प्रयोजन है। कहा भी है—

'णवि णाणं ण चरित्तं ण दंसणं जाणगो सुद्धो।'[3]

अर्थात्—आत्मा में न ज्ञान है, न चारित्र है, न दर्शन है, वह तो ज्ञायक, शुद्ध है।

आत्मा में ज्ञान, दर्शन आदि गुणों की कल्पना करना अशुद्ध-द्रव्यार्थिक नय का विषय है। अर्थात् एक अखण्ड द्रव्य में गुणों का भेद करना अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय का विषय है।

भेदे सदि सम्बंधं गुणगुणियईण कुणइ जो दव्वे।
सो वि असुद्धो दिट्ठो सहिओ सो भेदकप्पेण ॥२३॥ [नयचक्र]

---

१. आलापपद्धति सूत्र ४८। २. आलापपद्धति सूत्र ६ व ७।
३. समयसार गाथा ७।

अर्थात्—गुण गुणी में भेद होने पर भी जो नय द्रव्य में गुण गुणी का सम्बन्ध करती है वह भेदकल्पना सहित अशुद्ध नय जाननी चाहिये।

७. अन्वयसापेक्षो द्रव्यार्थिको यथा गुणपर्यायस्वभावं द्रव्यम् ॥५३॥

सूत्रार्थ—सम्पूर्ण गुण पर्याय और स्वभावों मे द्रव्य को अन्वयरूप से ग्रहण करने वाली नय अन्वय सापेक्ष द्रव्यार्थिक नय है।

विशेषार्थ—प्राकृत नय चक्र में इस नय का स्वरूप निम्न प्रकार कहा है—

णिस्सेससहावाणं अण्णयरूवेण दव्वदव्वेदि।
दव्वठवणो हि जो सो अण्णयदव्वत्थिओ भणिदो ॥२४॥

जो नय सम्पूर्ण स्वभावों को यह द्रव्य है, यह द्रव्य है, ऐसे अन्वय रूप से द्रव्य की स्थापना करता है वह अन्वय द्रव्यार्थिक नय है।

संस्कृत नयचक्र में इस नय का स्वरूप इस प्रकार कहा गया है—

निःशेषगुणपर्यायान् प्रत्येकं द्रव्यमब्रवीत्।
सोऽन्वयो निश्चयो हेम यथा सत्कटकादिषु ॥७॥[1]
यः पर्यायादिकान् द्रव्यं ब्रूते त्वन्वयरूपतः।
द्रव्यार्थिकः सोऽन्वयाख्यः प्रोच्यते नयवेदिभिः ॥४॥[2]

अर्थात्—जो सम्पूर्ण गुणों और पर्यायों में से प्रत्येक को द्रव्य बतलाता है वह अन्वय द्रव्यार्थिक नय है। जैसे कड़े आदि पर्यायों में तथा पीतत्व आदि गुणों में अन्वय रूप से रहने वाला स्वर्ण। अथवा मनुष्य, देव आदि नाना पर्यायों में यह जीव है, यह जीव है, ऐसा अन्वय द्रव्यार्थिक नय का विषय है।

आगे सूत्र १८७ में भी इस नय का स्वरूप इसी प्रकार कहा है।

८. स्वद्रव्यादिग्राहकद्रव्यार्थिको यथा स्वद्रव्यादिचतुष्टयापेक्षया द्रव्यमस्ति ॥५४॥

---

१. शोलापुर से प्रकाशित संस्कृत नयचक्र पृ० ५। २. शोलापुर से प्रकाशित संस्कृत नयचक्र पृ० ४१।

सूत्रार्थ—स्वद्रव्य स्वक्षेत्र स्वकाल स्वभाव की अपेक्षा द्रव्य को अस्ति रूप से ग्रहण करने वाला नय स्वद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिक नय है।

विशेषार्थ—कल्याण पावर प्रिंटिग प्रेस शोलापुर से प्रकाशित संस्कृत नयचक्र पृ० ३ व ५ पर इस नय का स्वरूप निम्न प्रकार कहा गया है—

'परद्रव्यादिनां विवक्षामकृत्वा स्वद्रव्यस्वक्षेत्रस्वकालस्वभावापेक्षया द्रव्यस्यास्तित्वमस्तीति स्वद्रव्यादिग्राहकद्रव्यार्थिकनयः।'

अस्तित्वं वस्तुरूपस्य स्वद्रव्यादिचतुष्टयात्।
एवं यो वक्त्यभिप्रायं स्वादिग्राहकनिश्चयः॥८॥

अर्थ—परद्रव्यादि की विवक्षा न कर, स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव की अपेक्षा से द्रव्य के अस्तित्व को अस्तिरूप से ग्रहण करने वाला नय स्वद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिक नय है। अथवा स्वद्रव्यादि चतुष्टय से वस्तु-स्वरूप का अस्तित्व बतलाना जिस नय का अभिप्राय है वह स्वद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिक नय है।

आगे सूत्र १८८ में भी इस नय का कथन है।

९. परद्रव्यादिग्राहकद्रव्यार्थिको यथा परद्रव्यादिचतुष्टयापेक्षया द्रव्यं नास्ति॥५५॥

सूत्रार्थ—परद्रव्य परक्षेत्र परकाल परस्वभाव की अपेक्षा द्रव्य नास्ति रूप है ऐसा परद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिक नय है।

विशेषार्थ—संस्कृत नयचक्र में इस नय का स्वरूप इस प्रकार कहा गया है—

'स्वद्रव्यादीनां विवक्षामकृत्वा परद्रव्यपरक्षेत्रपरकालपरभावापेक्षया द्रव्यस्य नास्तित्वकथकः परद्रव्यादिग्राहकद्रव्यार्थिकनयः।'
[पृ० ३]

नास्तित्वं वस्तुरूपस्य परद्रव्याद्यपेक्षया।
वांछितार्थेषु यो वक्ति परद्रव्याद्यपेक्षकः॥९॥ [पृ० ५]

अर्थ—स्वद्रव्य आदि की विवक्षा न कर परद्रव्य परक्षेत्र परकाल परभाव की अपेक्षा से द्रव्य के नास्तित्व को कथन करने वाला नय परद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिक नय है। अथवा परद्रव्यादि चतुष्टय की अपेक्षा से जो नय विवक्षित पदार्थ में वस्तु के नास्तित्व को बतलाता है वह परद्रव्यादि सापेक्ष द्रव्यार्थिक नय है। जैसे रजतद्रव्य रजतक्षेत्र रजतकाल रजतपर्याय अर्थात् रजतादि रूप से स्वर्ण नास्ति है।

आगे सूत्र १८९ में भी इसका कथन है।

१०. परमभावग्राहकद्रव्यार्थिको यथा ज्ञानस्वरूप आत्मा, अत्रानेकस्वभावानां मध्ये ज्ञानाख्यः परमस्वभावो गृहीतः ॥५६

सूत्रार्थ—ज्ञानस्वरूप आत्मा ऐसा कहना परमभावग्राहक द्रव्यार्थिक नय का विषय है, क्योंकि इसमें जीव के अनेक स्वभावों में से ज्ञाननामक परमभाव का ही ग्रहण किया गया है।

विशेषार्थ—संस्कृत नयचक्र में इस नय का स्वरूप निम्न प्रकार कहा गया है—

'संसारमुक्तपर्यायाणामाधारं भूत्वाप्यात्मद्रव्यकर्मबंधमोक्षाणां कारणं न भवतीति परमभावग्राहकद्रव्यार्थिकनयः।' [पृ० ३]

कर्मभिर्जनितो नैव नोत्पन्नस्तत्क्षयेन च।
नयः परमभावस्य ग्राहको निश्चयो भवेत् ॥१०॥ [पृ० ५]

अर्थ—यद्यपि आत्मद्रव्य संसार और मुक्त पर्यायों का आधार है तथापि आत्मद्रव्य कर्मों के बंध और मोक्ष का कारण नहीं होता है। यह परमभावग्राहक द्रव्यार्थिक नय है। अथवा, आत्मा कर्म से उत्पन्न नहीं होता और न कर्मक्षय से उत्पन्न होता है—द्रव्य के ऐसे भाव को बतलाने वाला परमभावग्राहक द्रव्यार्थिक नय है।

प्राकृत नयचक्र में इस नय का स्वरूप इस प्रकार कहा है—

गिह्णइ दव्वसहावं असुद्धसुद्धोपचार परिचत्तं।
सो परमभावगाही णायव्वो सिद्धिकामेण ॥२६॥ [पृ० ६]

अर्थात्—शुद्ध और अशुद्ध के उपचार से रहित जो नय द्रव्य के स्वभाव को ग्रहण करता है वह परमभावग्राहक द्रव्यार्थिक नय है।

आगे सूत्र १९० में भी इस नय का कथन है।



अथ पर्यायार्थिकस्य षड् भेदाः ॥५७॥

सूत्रार्थ—अब पर्यायार्थिक नय के छः भेदों का कथन करते हैं—

१. अनादिनित्यपर्यायार्थिको यथा पुद्गलपर्यायो नित्यो मेर्वादिः ॥५८॥

सूत्रार्थ—अनादि-नित्य पर्यायार्थिक नय जैसे मेरु आदि पुद्गल की पर्याय नित्य है।

विशेषार्थ—मेरु, कुलाचल पर्वत, अकृत्रिम जिनबिंब-जिनालय आदि ये सब पुद्गल की पर्यायें अनादिकाल से हैं अनन्तकाल तक रहेंगी, इनका कभी विनाश नहीं होगा अतः ये अनादि-नित्य-पर्यायार्थिक नय के विषय हैं। क्योंकि सभी पर्यायें विनाश को प्राप्त हों ऐसा एकान्त नहीं है। कहा भी है—

'होदु वियंजणपज्जाओ, ण च वियंजणपज्जायस्स सव्वस्स विणासेण होदव्वमिदि णियमो अत्थि, एयंतवादप्पसंगादो। ण च ण विणस्सदि त्ति दव्वं होदि, उप्पाय-ट्ठिदि-भंगसंगयस्स दव्वभावब्भुवगमादो।' [धवल पु० ७ पृ० १७८]

अर्थ—'अभव्यत्व' जीव की व्यंजन पर्याय भले ही हो, किन्तु सभी व्यंजन पर्याय का नाश अवश्य होना चाहिये, ऐसा कोई नियम नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने से एकान्तवाद का प्रसंग आ जायगा। ऐसा भी नहीं है कि जो वस्तु विनष्ट नहीं होती वह द्रव्य ही होना चाहिये, क्योंकि जिसमें उत्पाद-ध्रौव्य और व्यय पाये जाते हैं उसे द्रव्यरूप से स्वीकार किया गया है।

प्राकृत नयचक्र में भी कहा है—

अक्कट्टिमा अणिहणा ससिसूराईण पज्जया गिह्णइ।
जो सो अणाइणिच्चो जिणभणिओ पज्जयत्थिणओ ॥२७॥

अर्थ—जो नय चन्द्रमा, सूर्य आदि अकृत्रिम, अविनाशी पुद्गलपर्यायों को ग्रहण करता है वह अनादि-नित्य पर्यायार्थिक नय है ऐसा जिनेन्द्र भगवान ने कहा है।

संस्कृत नयचक्र में इस नय का लक्षण इस प्रकार कहा है—

पर्यायार्थी भवेन्नित्याऽनादिनित्यार्थगोचरः।
चन्द्रार्कमेरुभूशैल-लोकादेः प्रतिपादकः ॥१॥ [पृ० ६]

'भरतादिक्षेत्राणि हिमवदादिपर्वताः पद्मादिसरोवराणि सुदर्शनादिमेरुनगाः लवणकालोदकादिसमुद्राः एतानि मध्यस्थितानि कृत्वा परिणताऽसंख्यातद्वीपसमुद्राः श्वभ्रपटलानि भवनवासिवानव्यंतरविमानानि चन्द्रार्कमंडला ज्योतिर्विमानानि सौधर्मकल्पादिस्वर्गपटलानि यथायोग्यस्थाने परिणताऽकृत्रिमचैत्यचैत्यालयाः मोक्षशिलाश्च बृहद्वातवलयाश्च इत्येवमाद्यनेकाश्चर्यरूपेण परिणतपुद्गलपर्यायाद्यनेकद्रव्यपर्यायैः सह परिणतलोकमहास्कंधपर्यायाः त्रिकालस्थिताः संतोऽनाद्यनिधना इति अनादि-नित्य-पर्यायार्थिक नयः।' [पृ० ६]

अर्थ—भरत आदि क्षेत्र, हिमवत् आदि पर्वत, पद्मादि सरोवर, सुदर्शन आदि मेरु पर्वत, लवण, कालोदधि आदि समुद्रों को मध्य में स्थित करके असंख्यातद्वीप समुद्र स्थित हैं; नरक के पटल, भवनवासियों के विमान, व्यंतरों के विमान, चन्द्र, सूर्य आदि मंडल ज्योतिषियों के विमान और सौधर्मकल्पादि स्वर्गों के पटल; यथायोग्य स्थानों में परिणत अकृत्रिम चैत्य चैत्यालय; मोक्षशिला और वृहद्वातवलय आदि अनेक आश्चर्य से युक्त परिणत पुद्गलों की अनेक द्रव्यपर्याय सहित परिणत लोकमहास्कंध आदि पर्यायें त्रिकालस्थित हैं इसलिये अनादि-अनिधन हैं। इस प्रकार के विषय को ग्रहण करने वाला अनादिनित्यपर्यायार्थिक नय है।

२. सादिनित्यपर्यायार्थिको यथा सिद्धपर्यायो नित्यः ॥५६॥

सूत्रार्थ—सादि नित्यपर्यायार्थिक नय, जैसे—सिद्धपर्याय नित्य है।

विशेषार्थ—पर्यायार्थिक नय के प्रथम भेद का विषय अनादिनित्य पर्याय है और इस दूसरे भेद का विषय सादि-नित्य पर्याय है सिद्धपर्याय ज्ञानावरणादि आठों कर्मों के क्षय से उत्पन्न होती है अतः सादि है किन्तु इस पर्याय का कभी नाश नहीं होगा इसलिये नित्य है। इसी प्रकार ज्ञानावरण कर्म के क्षय से उत्पन्न होने वाला क्षायिक ज्ञान, दर्शनावरण कर्म के क्षय से उत्पन्न होने वाला क्षायिक दर्शन, मोहनीय कर्म के क्षय से उत्पन्न होने वाले क्षायिक सम्यग्दर्शन, क्षायिक चारित्र तथा अनन्त सुख, अन्तराय कर्म के क्षय से उत्पन्न होने वाले क्षायिक दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य ये सब क्षायिक भाव भी सादि-नित्य पर्याय हैं। कहा भी है—

'जीवा एव क्षायिकभावेन साद्यनिधनाः।'

[पंचास्तिकाय गा० ५३ टीका]

अर्थात्—क्षायिक भावों की अपेक्षा जीव भी सादि-अनिधन है।

इसी बात को प्राकृत नयचक्र में भी कहा गया है—

कम्मखयादुप्पण्णो अविणासी जो हु कारणाभावे।

इदमेवमुच्चरंतो भण्णइ सो साइणिच्च णओ ॥२०१॥ [पृ० ७४]

अर्थात्—कर्मो के क्षय से उत्पन्न होने वाले भाव अविनाशी हैं, क्योंकि कर्मोदयरूप बाधक कारण का अभाव है। इन क्षायिक भावों को विषय करने वाली सादि-नित्य पर्यायार्थिक नय है।

संस्कृत नयचक्र में भी कहा है

पर्यायार्थी भवेत्सादि व्यये सर्वस्य कर्मणः।

उत्पन्नसिद्धपर्यायग्राहको नित्यरूपकः ॥२॥ [पृ० ९]

आदत्ते पर्यायं नित्यं सादिं च कर्मणोऽभावात्।

स सादि नित्यपर्यायार्थिकनामा नयः स्मृतः ॥८॥ [पृ० ४१]

'शुद्धनिश्चयनयविवक्षामकृत्वा सकलकर्मक्षयोद्भूत चरमशरीराकारपर्यायपरिणतिरूपशुद्धसिद्धपर्यायः सादिनित्यपर्यायार्थिक नयः ॥२॥ [पृ० ७]

अर्थ – शुद्धनिश्चयनय की विवक्षा न करके, सम्पूर्ण कर्मों के निरवशेषतया क्षय के द्वारा उत्पन्न हुई चरमशरीर के आकार वाली परिणतिरूप शुद्ध सिद्ध-पर्याय को जो नयग्रहण करता है, वह सादिनित्य पर्यायार्थिक नय है।

३. सत्तागौणत्वेनोत्पादव्ययग्राहकस्वभावोऽनित्यशुद्धपर्यायार्थिको यथा समयं समयं प्रति पर्याया विनाशिनः ॥६०॥

सूत्रार्थ—ध्रौव्य को गौण करके उत्पाद-व्यय को ग्रहण करने वाला नय अनित्यशुद्धपर्यायार्थिक नय है जैसे—प्रति समय पर्याय विनाश होती है।

विशेषार्थ—यहां पर 'सत्ता' का अभिप्राय ध्रौव्य से है और गौण का अर्थ अप्रधान है। प्राकृत नयचक्र में इस नय का स्वरूप इस प्रकार कहा है—

सत्ता अमुक्खरूवे उप्पादवयं हि गिहृणए जो हु।
सो हु सहावअणिच्चोगाही खलु सुद्धपज्जाओ ॥२०२॥ [पृ० ७५]

ध्रौव्य को गौण करके उत्पाद-व्यय को ग्रहण करने वाला नय अनित्यशुद्ध-पर्यायार्थिक नय है।

संस्कृत नयचक्र में भी कहा है—

सत्तागौणत्वाद्यो व्ययमुत्पादं च शुद्धमाचष्टे।
सत्तागौणत्वेनोत्पादव्ययवाचकः स नयः ॥६॥ [पृ० ४२]

'सत्तागौणत्वेनोत्पादव्ययग्राहकस्वभावानित्यशुद्धपर्यायार्थिकः।' [पृ० ३७]

अर्थात्—ध्रौव्य को गौण करके शुद्ध उत्पाद-व्यय को जो नय ग्रहण करता है वह अनित्य-शुद्ध-पर्यायार्थिक नय है।

४. सत्तासापेक्षस्वभावो नित्याशुद्धपर्यायार्थिको यथा एकस्मिन् समये त्रयात्मकः पर्यायः ॥६१॥

सूत्रार्थ—ध्रौव्य की अपेक्षा सहित ग्रहण करने वाला नय नित्य-अशुद्ध-पर्यायार्थिक नय है। जैसे—एक समय में पर्याय उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक है।

विशेषार्थ—नयात्मक शब्द का अभिप्राय यह है कि पूर्व पर्याय का विनाश, उत्तर पर्याय का उत्पाद और द्रव्यपने से ध्रौव्य। इस नय का विषय ध्रौव्य भी होने से इस नय को अशुद्धपर्यायार्थिक कहा गया है, क्योंकि शुद्धपर्यायार्थिक नय का विषय ध्रौव्य नहीं होता।

प्राकृत नयचक्र में भी इस नय को अनित्य-अशुद्ध पर्यायार्थिक नय कहा गया है। गाथा निम्न प्रकार है—

जो गहइ एक्कसमये उप्पादव्ययधुवत्तसंजुत्तं।
सो सब्भावअणिच्चो असुद्धओ पज्जयत्थिणओ ॥२०३॥

[पृ० ७४]

अर्थात्—उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य ये तीनों एक समय में होते हैं। उन उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से युक्त सत्ता को जो नय ग्रहण करता है वह अनित्य-अशुद्ध-पर्यायार्थिक नय है।

ध्रौव्योत्पादव्ययग्राही कालेनैकेन यो नयः।
स्वभावानित्यपर्यायग्राहकोऽशुद्ध उच्यते ॥१०॥

[संस्कृत नयचक्र पृ० ४२]

अर्थात्—एक ही काल में ध्रौव्य-उत्पाद-व्यय को जो नय ग्रहण करता है वह अनित्य-अशुद्ध-पर्यायार्थिक नय कहा गया है।

५. कर्मोपाधिनिरपेक्षस्वभावो नित्यशुद्धपर्यायार्थिको यथा सिद्धपर्यायसदृशाः शुद्धाः संसारिणां पर्यायाः ॥६२॥

सूत्रार्थ—कर्मोपाधि (कर्मबंधन) से निरपेक्ष ग्रहण करने वाला नय नित्य-शुद्ध-पर्यायार्थिक नय है। जैसे—संसारी जीवों की पर्याय (अरहंत पर्याय) सिद्ध समान शुद्ध है।

विशेषार्थ—संस्कृत नयचक्र में इस नय का स्वरूप निम्न प्रकार कहा है—

विभावनित्यशुद्धोऽयं पर्यायार्थी भवेदलं।
संसारिजीवनिकायेषु सिद्धसादृश्यपर्ययः ॥५॥ [पृ० १०]

पर्यायानंगिनां शुद्धात् सिद्धानामिव यो वदेत् ।
स्वभावनित्यशुद्धोसौ पर्यायग्राहको नयः ॥११॥ [पृ० ४२]

'चराचरपर्यायपरिणत समस्तसंसारीजीवनिकायेषु शुद्धसिद्धपर्याय-विवक्षाभावेन कर्मोपधिनिरपेक्षस्वभावनित्यशुद्धपर्यायार्थिक नयः ॥५॥' [पृ० ८]

अर्थ—चराचर पर्याय परिणत संसारी जीवधारियों के समूह में शुद्ध सिद्ध पर्याय की विवक्षा से कर्मोपाधि से निरपेक्ष स्वभावनित्य-शुद्ध-पर्यायार्थिक नय है। यहां पर संसाररूप विभाव में यह नय नित्य-शुद्ध-पर्याय को जानने की विवक्षा रखता है।

प्राकृत नयचक्र में इस नय को अनित्य-शुद्ध-पर्यायार्थिक नय कहा है—

देहीणं पज्जाया सुद्धा सिद्धाण भणइ सारित्था ।
जो सो अणिच्चसुद्धो पज्जयगाही हवे सो णओ ॥२०४॥ [पृ० ७५]

अर्थात्—संसारी जीवों की पर्यायों को जो नय सिद्ध समान शुद्ध कहता है वह अनित्यशुद्धपर्यायार्थिक नय है।

६. कर्मोपाधिसापेक्षस्वभावोऽनित्याशुद्धपर्यायार्थिको यथा संसारिणामुत्पत्तिमरणे स्तः ॥६३॥

सूत्रार्थ—अनित्य-अशुद्ध-पर्यायार्थिक नय का विषय कर्मोपाधि सापेक्ष स्वभाव है, जैसे संसारी जीवों का जन्म तथा मरण होता है।

विशेषार्थ—संस्कृत नयचक्र में इस नय का लक्षण निम्न प्रकार कहा है—

अशुद्धनित्यपर्यायान् कर्मजान् विवृणोति यः ।
विभावानित्यपर्यायग्राहकोऽशुद्धसंज्ञकः ॥१२॥ [पृ० ४२]

'शुद्धपर्यायविवक्षाऽभावेन कर्मोपाधिसंजनितनारकादिविभाव-पर्यायाः जीवस्वरूपमिति कर्मोपाधिसापेक्ष-विभावानित्याशुद्धपर्यायार्थिक नयः ॥' [पृ० ८]

अर्थात्—शुद्ध पर्याय की विवक्षा न कर, कर्मजनित नारकादि विभाव पर्यायों को जीवस्वरूप बतलाने वाला नय अनित्य-अशुद्ध-पर्यायार्थिक नय है।

प्राकृत नयचक्र में भी कहा है—

भणइ अणिच्चासुद्धा चउगइजीवाण पज्जया जो हु।
होइ विभावअणिच्चो असुद्धओ पज्जयत्थिणओ ॥२०५॥
[पृ० ७५]

अर्थात्—जो नय संसारी जीवों की चतुर्गति सम्बन्धी अनित्य तथा अशुद्ध पर्यायों को ग्रहण करता है वह विभाव-अनित्य-अशुद्ध-पर्यायार्थिक नय है।

॥ इस प्रकार पर्यायार्थिक नय के छह भेदों का निरूपण हुआ ॥

नैगमस्त्रेधा भूतभाविवर्तमानकालभेदात् ॥६४॥

सूत्रार्थ—भूत भावि वर्तमानकाल के भेद से नैगम नय तीन प्रकार की है।

विशेषार्थ—नैगम नय का स्वरूप सूत्र ४१ की टीका में कहा गया है और आगे सूत्र १९६ में कहेंगे। नैगमनय के तीन भेदों का स्वरूप ग्रंथकार कहते हैं। कुछ आचार्य नैगमनय छह प्रकार की कहते हैं। जैसे—१. अतीत को वर्तमान, २. वर्तमान को अतीत, ३. अनागत को वर्तमान, ४. वर्तमान को अनागत, ५. अनागत को अतीत, ६. अतीत को अनागत कहना।

अतीते वर्तमानारोपणं यत्र, स भूतनैगमो यथा अद्य दीपोत्सवदिने श्री वर्द्धमानस्वामी मोक्षं गतः ॥६५॥

सूत्रार्थ—जहां पर अतीतकाल में वर्तमान को संस्थापन किया जाता है, वह भूत नैगम नय है। जैसे—आज दीपावली के दिन श्री महावीर स्वामी मोक्ष गये हैं।

विशेषार्थ—जो नय भूतकाल सम्बन्धी पर्याय को वर्तमान काल में आरोपण करके, संस्थापन करके कहता है उसको भूत नैगम नय कहते हैं।

प्राकृत नयचक्र में भी इसी प्रकार कहा गया है—

णिव्वित्तदव्वकिरिया वट्टणकाले दु जं समाचरणं ।

तं भूयणइगमणयं जह अड णिव्वुइदिणं वीरे ॥३३॥ [पृ० ८]

अर्थ—जो क्रिया हो चुकी उसको वर्तमान काल में समाचरण करना वह भूत नैगम नय है जैसे आज महावीर भगवान का निर्वाण दिवस है ।

अतीतं सांप्रतं कृत्वा निर्वाणं त्वद्य योगिनः ।

एवं वदत्यभिप्रायो नैगमातीतवाचकः ॥१॥

[संस्कृत नयचक्र पृ० १२]

अर्थ—जो अतीत योगियों के निर्वाण को वर्तमान में बतलाता है वह भूत नैगम नय का विषय है ।

'तीर्थंकरपरमदेवादिपरमयोगींद्राः अतीतकाले सकलकर्मक्षयं कृत्वा निर्वाणपदं प्राप्ताः संतोपि इदानीं सकलकर्मक्षयं कृतवंत इति निर्वाणपूजाभिषेकार्चनाक्रियाविशेषान् कुर्वंतः कारयंत इति अथवा व्रतगुरु-श्रुतगुरु-जन्मगुरु-प्रभृति सत्पुरुषा अतीतकाले समाधिविधिना गत्यंतरप्राप्ता अपि ते इदानीं अतिक्रांताः भवन्ति इति तद्दिने तेषां गुणानुरागेण दानपूजाभिषेकार्चनानि सांप्रतं कुर्वन्त इत्याद्यतीत विषयान वर्तमानवत् कथनं अतीतनैगमनयो भवति ।'

[संस्कृत नयचक्र पृ० १०]

अर्थ—यद्यपि तीर्थंकर परमदेव आदि योगीन्द्र अतीतकाल में सम्पूर्ण कर्मों का क्षय करके निर्वाण को प्राप्त कर चुके हैं फिर भी वर्तमान में वे सम्पूर्ण कर्मों का क्षय करने वाले हैं, इस प्रकार निर्वाण की पूजा, अभिषेक और अर्चना विशेष क्रियाओं को वर्तमान में करते और कराते हैं । अथवा व्रतगुरु, दीक्षा-गुरु, शिक्षागुरु, जन्मगुरु आदि सत्पुरुष समाधि विधि से दूसरी गति को प्राप्त हो चुके हैं, फिर भी वे आज समाधि से युक्त हुए हैं, इस प्रकार से उस उस दिन के गुणानुराग से दान, पूजा, अभिषेक और अर्चा को वर्तमान काल में

करते हैं। इस प्रकार अतीत विषयों को वर्तमान के समान कथन करना भूत-नैगम नय है।

भाविनि भूतवत्कथनं यत्र स भाविनैगमो यथा अर्हन् सिद्ध एव ॥६६॥

सूत्रार्थ—जहां भविष्यत् पर्याय में भूतकाल के समान कथन किया जाता है वह भाविनैगम नय है। जैसे—अरहन्त सिद्ध ही हैं।

विशेषार्थ—जो नय आगामी काल में होने वाली पर्याय को अतीतकाल में कथन करता है वह भाविनैगम नय है। जैसे—श्री अरहंत भगवान अभी सिद्धभगवान नहीं हैं, आगामी काल में होवेंगे—उन अरहंत भगवान को जो नय सिद्ध रूप से कथन करती है, वह भाविनैगम नय है। प्राकृत नयचक्र में कहा है—

णिप्पण्णमिव पयंपदि भाविपयत्थं णरो अणिप्पण्णं।
अप्पत्थे जह पत्थं भण्णइ सो भावि णइगमोत्ति णओ ॥३५॥

[पृ० ८]

अर्थात्—जो नय अनिष्पन्न, भावि पदार्थ को निष्पन्नवत् कहता है, जैसे अप्रस्थ को प्रस्थ कहता है वह भाविनैगम नय है।

संस्कृत नयचक्र में भी इस प्रकार कहा है—

चित्तस्थं यदनिर्वृत्तप्रस्थके प्रस्थकं यथा।
भाविनो भूतवद्ब्रूते नैगमोऽनागतो मतः ॥३॥ [पृ० १२]

अर्थात्—अपूर्ण (अनिष्पन्न) प्रस्थ में प्रस्थ की संकल्पना करना अर्थात् भावि को भूतवत् बतलाना भाविनैगम नय है।

'भाविकाले परिणमिष्यतोऽनिष्पन्नक्रियाविशेषान् वर्तमानकाले निष्पन्ना इति कथनं।' [संस्कृत नयचक्र पृ० १२]

जो पर्याय अभी अनिष्पन्न है, भाविकाल में निष्पन्न होगी उसको वर्तमान में निष्पन्न कहना भावि नैगम नय है। जैसे—

'विवक्षाकालेऽतीर्थंकरान् रावणलक्ष्मीधरश्रेणिकादीन् तीर्थंकर-परमदेवा इति अधिराज्यपदव्यभावेऽपि नृपकुमाराधिराज इति कथनं, प्रस्थप्रायोग्यवस्तुविशेषः प्रस्थमित्यादिदृष्टांतान् भाविकाले निष्पन्नान् भविष्यन्तोऽवतिष्ठमानान् विषयान् निष्पन्ना इति कथनं भाविनैगम नयः। [पृ० ११]

अर्थ—विवक्षाकाल में जो तीर्थंकर नहीं हैं उन भावी रावण, लक्ष्मण श्रेणिक आदि को परमतीर्थंकर देव कहना, राज्यपद को अप्राप्त राजकुमार को राजा कहना, प्रस्थयोग्य वस्तुविशेष को प्रस्थ कहना इत्यादिक दृष्टांतों को, भाविकाल में पूर्ण होने वाले भाविरूप में रहने वाले विषयों को पूर्ण हो गये इस प्रकार से कथन करना भाविनैगम नय है।

कर्तुमारब्धमीषन्निष्पन्नमनिष्पन्नं वा वस्तु निष्पन्नवत्कथ्यते यत्र स वर्तमाननैगमो यथा ओदनः पच्यते ॥६७॥

सूत्रार्थ—करने के लिए प्रारम्भ की गई ऐसी ईषत् निष्पन्न (थोड़ी बनी हुई) अथवा अनिष्पन्न (बिल्कुल नहीं बनी हुई) वस्तु को निष्पन्नवत् कहना वह वर्तमान नैगम नय है। जैसे—भात पकाया जाता है।

विशेषार्थ—प्रारम्भ किये गये किसी कार्य को, उस कार्य के पूर्ण नहीं होने पर भी पूर्ण हुआ कह देना वर्तमान नैगम नय है। जैसे—कोई पुरुष भात बनाने की सामग्री इकट्ठी कर रहा था किन्तु उसका यह कहना कि 'भात बना रहा हूँ', वर्तमान नैगम नय का विषय है। प्राकृत नय चक्र में भी कहा है—

पारद्धा जा किरिया पयणविहाणादि कहइ जो सिद्धा।
लोए व पुच्छमाणे तं भण्णइ वट्टमाणणयं ॥३४॥ [पृ० ८]

अर्थ—चावल पकाने की क्रिया प्रारम्भ करते समय पूछे जाने पर यह कहना कि 'भात बना रहा हूँ' वर्तमान नैगम नय है।

संस्कृत नय चक्र में भी कहा है—

अनिष्पन्नं क्रियारूपं निष्पन्नं गदति स्फुटं ।
नैगमो वर्तमानः स्यादोदनं पच्यते यथा ॥२॥ [पृ० १२]

अर्थात्—अपूर्ण क्रियारूप को जो निष्पन्न-पूर्ण बतलाता है वह वर्तमान नैगमनय है। जैसे—भात पकाया जाता है।

'वसतिं करोमि, ओदनं पक्वान्नं पचामि, वाहं करोमीत्याद्यनिष्पन्नक्रियाविशेषानुद्दिश्य निष्पन्ना इति वदनं वर्तमाननैगमनयः।' [पृ० १०]

अर्थ—मैं वसतिका बनाता हूँ, भात को, पक्वान्न को पकाता हूँ, इत्यादि अपूर्ण क्रिया विशेषों को लक्ष्य करके 'पक गये' ऐसा कहना वर्तमान नैगम नय है।

॥ इस प्रकार नैगम नय के तीनों भेदों का निरूपण हुआ ॥

संग्रहो द्वेधाः ॥६८॥

सूत्रार्थ—संग्रह नय दो प्रकार का है (१) सामान्य संग्रह (२) विशेष संग्रह। अथवा—शुद्ध संग्रह, अशुद्ध संग्रह के भेद से दो प्रकार का है। सामान्य संग्रह को शुद्ध संग्रह और विशेष संग्रह को अशुद्ध संग्रह समझना चाहिए।

शुद्ध संग्रह अथवा सामान्य संग्रह का स्वरूप—

सामान्यसंग्रहो यथा सर्वाणि द्रव्याणि परस्परमविरोधीनि ॥६९॥

सूत्रार्थ—सामान्य संग्रह नय, जैसे—सर्व द्रव्य परस्पर अविरोधी हैं।

विशेषार्थ—सर्व द्रव्य सामान्य से सत् रूप हैं, क्योंकि 'सत्' द्रव्य का लक्षण है। इसीलिए सर्व द्रव्य परस्पर में अविरोधी हैं। 'सत्' कहने से जीव अजीव सभी द्रव्यों का ग्रहण हो जाता है अतः यह सामान्य संग्रह नय का विषय है। प्राकृत नयचक्र में कहा भी है—

'अवरे परमविरोहे सव्वं अत्थित्ति सुद्धसंगहणो ॥ [पृ० ८]

अर्थ—सर्व द्रव्यों में परस्पर अविरोध है क्योंकि सत् रूप हैं—यह शुद्ध-संग्रह अथवा सामान्य-संग्रह नय है।

संस्कृत नयचक्र में भी कहा है—

'परस्पराविरोधेन समस्तपदार्थसंग्रहैकवचनप्रयोगचातुर्येण कथ्यमानं सर्वं सदित्येतत् सेनावनंनगरमित्येतत् प्रभृत्यनेकजाति निचयमेकवचनेन स्वीकृत्य कथनं सामान्यसंग्रहनयः।' [पृ० १३]

अर्थ—परस्पर अविरोध रूप से सम्पूर्ण पदार्थों के संग्रहरूप एकवचन के प्रयोग के चातुर्य से कहा जाने वाला सब सत् स्वरूप है। इस प्रकार से सेना-समूह, वन, नगर आदि अनेक जाति के समूह को एकवचन रूप से स्वीकार करके कथन करना सामान्य संग्रह नय है।

विशेषसंग्रहो यथा सर्वे जीवाः परस्परमविरोधिनः ॥७०॥

सूत्रार्थ—विशेषसंग्रहनय, जैसे—सर्व जीव परस्पर में अविरोधी हैं, एक हैं।

विशेषार्थ—जो नय एक जाति विशेष की अपेक्षा से अनेक पदार्थों को एकरूप ग्रहण करता है वह विशेष संग्रह नय है। जैसे—चैतन्यपने की अपेक्षा से सम्पूर्ण जीवराशि एक है। जीव के कहने से सामान्यतया सब जीवों का तो ग्रहण हो जाता है परन्तु अजीव का ग्रहण नहीं होता है, अतः यह विशेष संग्रह नय है। प्राकृत नयचक्र में भी कहा है—

'होइ तमेव असुद्धं इगिजाइविसेसगहणेण।' [पृ० ७६]

अर्थात्—एक जातिविशेष ग्रहण करने से वह अशुद्ध (विशेष) संग्रह नय है।

संस्कृत नयचक्र में भी इसी प्रकार कहा है—

'जीवनिचयाजीवनिचयहस्तिनिचयतुरंगनिचयरथनिचयपदाति—निचय इति निंबुजंबीरजंबूमाकंदनालिकेरनिचय इति द्विजवर वणिग्वर तलवराद्यष्टादशश्रेणीनिचय इत्यादि दृष्टांतैः प्रत्येकजाति-निचयमेकवचनेन स्वीकृत्य कथनं विशेषसंग्रहनयः।' [पृ० १३]

अर्थ—जीव समूह, अजीव समूह, हाथियों का झुण्ड, घोड़ों का झुण्ड, रथों का समूह, पैदल चलने वाले सैनिकों का समूह, निंबु, जामुन, आम व नारियल का समूह; इसी प्रकार द्विजवर, वणिक्श्रेष्ठ, कोटपाल आदि अठारह श्रेणी के निचय इत्यादिक दृष्टांतों के द्वारा प्रत्येक जाति के समूह को नियम से एकवचन द्वारा स्वीकार करके कथन करना विशेष संग्रह नय है।

॥ इस प्रकार संग्रह नय के दोनों भेदों का कथन हुआ ॥

व्यवहारोऽपि द्वेधा ॥७१/१॥

सूत्रार्थ—व्यवहारनय भी दो प्रकार का है (१) सामान्य (२) विशेष।

विशेषार्थ—संस्कृत नयचक्र में कहा भी है—

यः संग्रहगृहीतार्थे शुद्धाशुद्धे विभेदकः।

शुद्धाशुद्धाभिधानेन व्यवहारो द्विधा मतः ॥१७॥ [पृ० ४२]

अर्थ—शुद्ध (सामान्य) संग्रह नय द्वारा ग्रहीत अर्थ की भेदक तथा अशुद्ध (विशेष) संग्रह नय द्वारा ग्रहीत अर्थ की भेदक व्यवहार नय भी शुद्ध, अशुद्ध (सामान्य, विशेष) के अभिधान से दो प्रकार का है।

सामान्य व्यवहार नय का स्वरूप—

सामान्यसंग्रहभेदको व्यवहारो यथा द्रव्याणि जीवाजीवाः ॥७१/२॥

सूत्रार्थ—सामान्यसंग्रह नय के विषयभूत पदार्थ में भेद करने वाला सामान्यसंग्रहभेदक व्यवहारनय है। जैसे—द्रव्य के दो भेद हैं—जीव और अजीव।

विशेषार्थ—संस्कृत नयचक्र में इस नय का स्वरूप इस प्रकार कहा है—

सामान्यसंग्रहस्यार्थे जीवाजीवादि भेदतः।

भिनत्ति व्यवहारोयं शुद्धसंग्रहभेदकः ॥१॥ [पृ० १५]

'अनेन सामान्यसंग्रहनयेन स्वीकृतसत्ता सामान्यरूपार्थं भित्वा जीवपुद्गलादिकथनं, सेनाशब्देन स्वीकृतार्थं भित्वा हस्त्यश्वरथपदाति-

कथनं, नगरशब्देन स्वीकृतार्थं भित्वा अयस्कार सुवर्णकारकांस्यकारौप-धिकारशाव्यकारजालकारवैद्यकारादि कथनं, वनशब्देन स्वीकृतार्थं भित्वा पनसाम्रनालिकेरपूगद्रुमादि कथनमिति सामान्यसंग्रहभेदक-व्यवहारनयो भवति।' [पृ० १४]

अर्थ—जो सामान्यसंग्रह के द्वारा कहे गये अर्थ को जीव अजीव आदि के भेद से विभाजन करता है वह शुद्धसंग्रह का भेदक व्यवहारनय है। इस तरह सामान्यसंग्रह नय के द्वारा स्वीकृत सत्ता सामान्य अर्थ को भेदकर जीव, पुद्गल कहना; सेना शब्द के द्वारा स्वीकृत अर्थ को भेदकर हाथी, घोड़ा, रथ, प्यादे आदि को कहना; नगर शब्द के द्वारा स्वीकृत पदार्थ का भेद कर लुहार, सुनार, कंसार, औषधिकार, मारक, जलाकार, वैद्य आदि कहना; वन शब्द के द्वारा स्वीकार किये गये अर्थ को भेदकर पनस आम, नारियल, सुपारी आदि वृक्षों को कहना सामान्य संग्रह का भेदक व्यवहारनय है।

विशेषसंग्रहभेदको व्यवहारो यथा जीवाः संसारिणो मुक्ता-श्च ॥७२॥

सूत्रार्थ—विशेष संग्रह नय के विषयभूत पदार्थ को भेदरूप से ग्रहण करने वाला विशेषसंग्रहभेदक व्यवहार नय है, जैसे—जीव के संसारी और मुक्त ऐसे दो भेद करना।

विशेषार्थ—संस्कृत नयचक्र में इस नय का स्वरूप इस प्रकार कहा है—

विशेषसंग्रहस्यार्थे जीवादौ रूपभेदतः।
भिनत्ति व्यवहारस्त्वशुद्धसंग्रहभेदकः ॥२॥ [पृ० १५]

'विशेषसंग्रहनयेन स्वीकृतार्थान् जीवपुद्गलनिचयान भित्वा देव-नारकादिकथनं घटपटादिकथनं, हस्त्यश्वरथपदातीन् भित्वा भद्रगज-जात्यश्व-महारथ-शतभट-सहस्रभटादिकथनं, निंवजंवुजंवीरनारंग-नालिकेरसहकारपादपनिचयं भित्वा सरसविरसता मधुराम्रादिरस-

विशेषतां परिमलतां हरितपाण्डुरादिवर्णविशेषतां ह्रस्वदीर्घतां सफल-निःफलतामित्यादि कथनं, तलवराद्यष्टादशश्रेणीनिचयं भित्वा बलाबलतां सस्वनिस्वतां कुशलाकुशलतां योग्यायोग्यतां कुब्जदीर्घतां कुरूपसुरूपतां स्त्रीपुंनपुंसकभेदविशेषतां कर्मविभागतां सदसदाचरणतां च कथनमित्याद्यनेकविषयान् भित्वा कथनं विशेषसंग्रहभेदकव्यवहार-नयो भवति ।' [पृ० १४]

अर्थ—जो विशेषसंग्राहक नय के विषयभूत जीवादि पदार्थ को रूपभेद से—स्वरूपभेद से विभाजित करता है वह अशुद्धसंग्रह (विशेषसंग्रह) भेदक व्यवहार नय है। विशेषसंग्रह नय के द्वारा स्वीकृत पदार्थों को जीवपुद्गलों के समूह को भेद करके देवनारकादिक और घट वस्त्रादिक का कथन करना; हस्ति, घोड़े, रथ, प्यादों को भेदरूप से विकल्प करके भद्र हाथी, सुन्दर घोड़ा, महारथ, शतभट, सहस्रभट आदि रूप से कहना; निंब, जामुन, जंबीर, नारंगी, नारियल और आम के समूह को भेद करके सरस, विरसता को, मधुर आम के रस की विशेषता को, सुगन्धता को, हरित-श्वेत-पीतादिक वर्ण-विशेषता को, ह्रस्व-दीर्घता को, सफलता-निष्फलता आदि से युक्त कहना; रथों को, तलवर, कोत-वाल आदि अठारह श्रेणी-समूह के भेद कर बलाबल को, सधनता-निर्धनता को, कुशलता-अकुशलता को, योग्यता-अयोग्यता को, कुवड़ापन व मोटापे को, कुरूपता-सुरूपता को, स्त्री-पुरुष-नपुंसक को, कर्मफल को, सदाचरण-असदाचरण को कहना, इत्यादि अनेक विषयों को भेद करके कहना विशेष-संग्रह-भेदक-व्यवहारनय है।

॥ इस प्रकार व्यवहार नय के दोनों भेदों का निरूपण हुआ ॥

ऋजुसूत्रोपि द्विविधः ॥७३॥

सूत्रार्थ—ऋजुसूत्र नय भी दो प्रकार का है। अर्थात्—(१) सूक्ष्मऋजुसूत्र नय (२) स्थूलऋजुसूत्र नय। ऋजुसूत्र नय का विशेष कथन सूत्र ४१ की टीका में है।

सूक्ष्मऋजुसूत्र नय का स्वरूप—

सूक्ष्मर्जुसूत्रो यथा एकसमयावस्थायी पर्यायः ।७४।।

सूत्रार्थ—जो नय एक समयवर्ती पर्याय को विषय करता है वह सूक्ष्म-ऋजुसूत्र नय है।

विशेषार्थ—प्राकृत नयचक्र में भी सूक्ष्मऋजुसूत्र नय का स्वरूप निम्न प्रकार कहा है—

जो एयसमयवट्टी गेह्णइ दव्वे धुवत्तपज्जाओ ।
सो रिउसुत्ते सुहुमो सव्वं सद्दं जहा खणियं ।।२११।। [पृ० ७६]

अर्थात्—जो नय द्रव्य में एक समयवर्ती पर्याय को ग्रहण करता है, वह सूक्ष्मऋजुसूत्र नय है। जैसे—'शब्द' क्षणिक है।

संस्कृत नयचक्र में भी कहा है—

द्रव्ये गृह्णाति पर्यायं ध्रुवं समयमात्रिकं ।
ऋजुसूत्राभिधः सूक्ष्मः स सर्वं क्षणिकं यथा ।।१८।। [पृ० ४२]

द्रव्य में समयमात्र रहने वाली पर्याय को जो नय ग्रहण करती है, वह सूक्ष्मऋजुसूत्र नय कही गई है। जैसे सर्व क्षणिक है।

'प्रतिसमय प्रवर्तमानार्थपर्याये वस्तुपरिणामनमित्येषः सूक्ष्म-ऋजुसूत्र नयो भवति।' [पृ० १६]

'अर्थपर्यायापेक्षया समयमात्रं।' [पृ० १७]

अर्थ—प्रति समय प्रवर्तमान अर्थपर्याय में वस्तुपरिणमन को विषय करने वाला सूक्ष्मऋजुसूत्र नय है। अर्थ पर्याय की अपेक्षा समयमात्र काल है।

स्थूलऋजुसूत्र नय का स्वरूप—

स्थूलर्जुसूत्रो यथा मनुष्यादिपर्यायास्तदायुःप्रमाणकालं तिष्ठन्ति ।।७५।।

सूत्रार्थ—जो नय अनेक समयवर्ती स्थूलपर्याय को विषय करता है, वह

स्थूलऋजुसूत्र नय है। जैसे—मनुष्यादि पर्यायें अपनी-अपनी आयु प्रमाण काल तक रहती हैं।

विशेषार्थ—प्राकृत नयचक्र में स्थूलऋजुसूत्र नय का स्वरूप इस प्रकार कहा है—

मणुवाइयपज्जाओ मणुसोति सगट्ठिदीसु वट्टंतो।
जो भणइ तावकालं सो थूलो होइ रिउसुत्तो ॥२१२॥ [पृ० ७७]

अर्थात्—अपनी स्थिति पर्यंत रहने वाली मनुष्य आदि पर्याय को उतने काल तक जो नय मनुष्य आदि कहता है वह स्थूलऋजुसूत्र नय है।

संस्कृत नयचक्र में इस प्रकार कहा है—

यो नरादिकपर्यायं स्वकीयस्थितिवर्त्तनं।
तावत्कालं तथा चष्टे स्थूलाख्यऋजुसूत्रकः ॥१६॥ [पृ० ४२]

मनुष्यादि पर्यायें अपनी-अपनी स्थिति काल तक रहती हैं। उतने काल तक मनुष्य आदि कहना स्थूलऋजुसूत्र नय है।

'नरनारकादिघटपटादिव्यंजनपर्यायेषु जीवपुद्गलाभिधानरूपवस्तूनि परिणतानीति स्थूलऋजुसूत्रनयः [पृ० १६]। व्यंजनपर्यायापेक्षया प्रारम्भतः प्रारभ्य अवसान यावद्भवतीति निश्चयः कर्तव्य इति तात्पर्य।' [पृ० १७]

अर्थ—नर-नारक आदि और घट-पट आदि व्यंजन पर्यायों में जीव और पुद्गल नामक पदार्थ परिणत हुए हैं। इस प्रकार का विषय स्थूलऋजुसूत्र नय का है। व्यंजनपर्याय की अपेक्षा प्रारम्भ से अवसान तक वर्तमान पर्याय निश्चय करना चाहिये।

॥ इस प्रकार ऋजुसूत्र नय के दोनों भेदों का कथन हुआ ॥

शब्दसमभिरूढैवंभूता नयाः प्रत्येकमेकैका नयाः ॥७६॥

सूत्रार्थ—शब्द नय, समभिरूढ नय और एवंभूत नय इन तीनों नयों में से प्रत्येक नय एक एक प्रकार का है। शब्द नय एक प्रकार का है, समभिरूढ

नय एक प्रकार का है तथा एवंभूत नय एक प्रकार का है।

शब्द नय का कथन—

शब्दनयो यथा दाराः भार्या कलत्रं जलं आपः ॥७७॥

सूत्रार्थ—शब्द नय जैसे—दारा, भार्या कलत्र अथवा जल व आप एकार्थ-वाची हैं।

विशेषार्थ—इस नय का विशेष कथन सूत्र ४१ की टीका में किया जा चुका है। किन्तु संस्कृत नयचक्र में इस प्रकार कहा है—

'शब्दप्रयोगस्यार्थं जानामीति कृत्वा तत्र एकार्थमेकशब्देन ज्ञाते सति पर्यायशब्दस्य अर्थक्रमो यथेति चेत् पुष्यतारका नक्षत्रमित्येकार्थो भवति। अथवा दाराः कलत्रं भार्या इति एकार्थो भवतीति कारणेन लिंगसंख्यासाधनादि व्यभिचारं मुक्त्वा शब्दानुसारार्थं स्वीकर्तव्य-मिति शब्दनयः।' [पृ० १७]

अर्थ—'शब्दप्रयोग के अर्थ को जानता हूं' इस प्रकार अभिप्राय को धारण करके एक शब्द के द्वारा एक अर्थ को जान लेने पर पर्यायवाची शब्द का अर्थक्रम जैसे पुष्य, तारक और नक्षत्र ये एकार्थ के वाचक हैं इसलिए इन का एकार्थ है। अथवा दारा, कलत्र, भार्या इनका एकार्थ होता है। कारण-वशात् लिंग, संख्या, साधन आदि के व्यभिचार को छोड़कर शब्द के अनुसार अर्थ को स्वीकार करना चाहिये यह शब्दनय है।

टिप्पण में कहा है—जहाँ पर लिंग, संख्या, साधन आदि का व्यभिचार होने पर भी दोष नहीं है वह शब्द नय है।

प्राकृत नयचक्र में इस प्रकार कहा है—

जो वट्टणं ण मण्णइ एयत्थे भिण्णलिंग आईणं।
सो सद्दणओ भणिओ पुस्साइयाण जहा ॥२१३॥ [पृ० ७७]

अर्थ—जो नय एक पदार्थ में भिन्न लिंगादिक की स्थिति को नहीं मानता है वह शब्द नय है जैसे—पुष्यादि।

शब्द नय के विषय में दो मत हैं—एक मत यह है कि शब्द नय लिंग

आदि के दोष को दूर करता है। दूसरा मत है कि शब्द नय की दृष्टि में लिंग, संख्या, साधन आदि का दोष नहीं है।

समभिरूढनयो यथा गौः पशुः ॥७८॥

सूत्रार्थ—नाना अर्थों को 'सम' अर्थात् छोड़कर प्रधानता से एक अर्थ में रूढ होता है वह समभिरूढ है। जैसे—'गो' शब्द के वचन आदि अनेक अर्थ पाये जाते हैं तथापि वह 'पशु' अर्थ में रूढ है।

विशेषार्थ—समभिरूढ नय का स्वरूप विस्तारपूर्वक सूत्र ४१ की टीका में कहा जा चुका है। आगे सूत्र २०१ में भी इसका लक्षण कहेंगे।

एवंभूतनयो यथा इन्दतीति इन्द्रः ॥७९॥

सूत्रार्थ—जिस नय में वर्तमान क्रिया ही प्रधान होती है वह एवंभूतनय है। जैसे—जिस समय देवराज इन्दन क्रिया को करता है उस समय ही इस नय की दृष्टि में वह इन्द्र है।

विशेषार्थ—सूत्र ४१ की टीका में एवंभूत नय का स्वरूप सविस्तार कहा जा चुका है। आगे सूत्र २०२ में भी इसका स्वरूप कहा जायगा।

॥ द्रव्यार्थिक नय के १० भेद, पर्यायार्थिक नय के ६ भेद, नैगम नय के ३ भेद, संग्रहनय के २ भेद, व्यवहार नय के २ भेद, ऋजुसूत्र नय के २ भेद, शब्द नय, समभिरूढनय और एवंभूतनय ये तीन, इस प्रकार नय के २८ भेदों का कथन हुआ ॥

उपनयभेदा उच्यन्ते ॥८०॥

सूत्रार्थ—उपनय के भेदों को कहते हैं।

विशेषार्थ—उपनय का लक्षण सूत्र ४३ में कहा जा चुका है। उसके तीन मूल भेद हैं—१. सद्भूत, २. असद्भूत, ३. उपचरित असद्भूत व्यवहारनय।

सद्भूतव्यवहारो द्विधा ॥८१॥

सूत्रार्थ—सद्भूत व्यवहारनय दो प्रकार का है।

विशेपार्थ—सूत्र ४४ में उपनय के तीन भेद बतलाये थे—(१) सद्भूत व्यवहारनय, (२) असद्भूत व्यवहारनय, (३) उपचरित असद्भूत व्यवहारनय। इनमें से सर्वप्रथम सद्भूत व्यवहारनय के भेदों को कहते हैं। व्यवहारनय का लक्षण तथा सद्भूत व्यवहारनय का लक्षण सूत्र ४४ की टीका में कहा जा चुका है, आगे भी सूत्र २०५ व २०६ में कहेंगे। शुद्धसद्भूत और अशुद्धसद्भूत के भेद से सद्भूत व्यवहारनय दो प्रकार की है।

शुद्ध सद्भूत व्यवहारनय—

शुद्धसद्भूतव्यवहारो यथा शुद्धगुणशुद्धगुणिनोः शुद्धपर्यायशुद्धपर्यायिणोर्भेदकथनम् ॥८२॥

सूत्रार्थ—शुद्धगुण और शुद्धगुणी में तथा शुद्धपर्याय और शुद्धपर्यायी में जो नय भेद का कथन करता है वह शुद्धसद्भूत व्यवहारनय है।

विशेपार्थ—कर्मोपाधि निरपेक्ष शुद्ध जीव गुणी और क्षायिक शुद्ध ज्ञान में तथा सिद्ध जीव व सिद्धपर्याय में भेद कथन करना शुद्धसद्भूत व्यवहारनय का विषय है।

संस्कृत नयचक्र में भी इस प्रकार कहा है—

'संज्ञालक्षणप्रयोजनादिभिर्भित्त्वा शुद्धद्रव्ये गुणगुणिविभागैकलक्षणं कथयन् शुद्धसद्भूतव्यवहारोपनयः।' [पृ० २१]

संज्ञा, लक्षण, प्रयोजन के द्वारा भेद करके शुद्ध द्रव्य में गुण और गुणी के विभाग के एक मुख्यलक्षण को कहने वाला शुद्धसद्भूत व्यवहारनय है।

अशुद्धसद्भूत व्यवहारनय—

अशुद्धसद्भूतव्यवहारो यथाऽशुद्धगुणाऽशुद्धगुणिनोरशुद्धपर्यायाशुद्धपर्यायिणोर्भेद कथनम् ॥८३॥

सूत्रार्थ—अशुद्धगुण और अशुद्धगुणी में तथा अशुद्धपर्याय और अशुद्धपर्यायी में जो नयभेद का कथन करता है वह अशुद्धसद्भूतव्यवहारनय है।

विशेपार्थ—'संज्ञालक्षणप्रयोजनादिभिर्भित्त्वा अशुद्धद्रव्ये गुणगुणि-

विभागैकलक्षणं कथयन् अशुद्धसद्भूतव्यवहारोपनयः ।'

[संस्कृत नयचक्र पृ० २१]

अर्थात्—संज्ञा, लक्षण, प्रयोजन के द्वारा भेद करके अशुद्ध द्रव्य में गुण और गुणी के विभाग रूप मुख्य लक्षण को कहने वाला अशुद्ध-सद्भूतव्यवहार-नय है।

॥ इस प्रकार सद्भूत-व्यवहारनय के दोनों भेदों का कथन हुआ ॥

असद्भूतव्यवहारस्त्रेधा ॥८४॥

सूत्रार्थ—असद्भूतव्यवहारनय तीन प्रकार की है।

विशेषार्थ—असद्भूत व्यवहारनय का लक्षण सूत्र ४४ की टीका में कहा जा चुका है और आगे भी सूत्र २०७ में कहेंगे। संस्कृत नयचक्र में भी कहा है—

'यदन्यस्य प्रसिद्धस्य धर्मस्यान्यत्र कल्पना असद्भूतो भवेद्भावः ।'

[पृ० २२]

अर्थ—अन्य के प्रसिद्ध धर्म को किसी अन्य में कल्पित करना सो असद्भूत-व्यवहारनय है।

असद्भूतव्यवहारनय के तीन भेद हैं—(१) स्वजात्यसद्भूतव्यवहारनय, (२) विजात्यसद्भूतव्यवहारनय, (३) स्वजातिविजात्यसद्भूतव्यवहारनय।

स्वजात्यसद्भूतव्यवहारनय का लक्षण—

स्वजात्यसद्भूतव्यवहारो यथा परमाणुर्बहुप्रदेशीति कथन-मित्यादि ॥८५॥

सूत्रार्थ—स्वजाति-असद्भूत-व्यवहारनय जैसे परमाणु को बहुप्रदेशी कहना, इत्यादि।

विशेषार्थ—जो नय स्वजातीय द्रव्यादिक में स्वजातीय द्रव्यादि के सम्बन्ध से होने वाले धर्म का आरोपण करता है वह स्वजात्यसद्भूतव्यवहारनय है। जैसे—परमाणु बहुप्रदेशी है। परमाणु अन्य परमाणुओं के सम्बन्ध से बहु-

प्रदेशी हो सकता है। यहाँ पर स्वजातीय द्रव्य में स्वजातीय द्रव्य के सम्बन्ध से होने वाली विभावपर्याय का आरोपण किया गया है। कहा भी है—

अणुरेकप्रदेशोपि येनानेकप्रदेशकः।
वाच्यो भवेदसद्भूतो व्यवहारः स भण्यते ॥५॥

[संस्कृत नयचक्र पृ० ४७]

अर्थ—जिसके द्वारा अणु एकप्रदेशी होने पर भी बहुप्रदेशी बतलाया जाता है वह भी असद्भूत-व्यवहारनय है।

संस्कृत नयचक्र में पृ० २२ पर स्वजात्यसद्भूतव्यवहारनय का कथन इस प्रकार किया गया है—

'पुद्गलद्रव्यस्य घटपटादिसम्बन्धप्रबन्धपरिणतिविशेषकथकः स्वजात्यसद्भूतव्यवहारोपनयः। ...स्कंधरूपस्वरूपेषु पुद्गलस्त्विति भाष्यते, इत्यसद्भूतरूपोसौ व्यवहारस्वजातिकः।'

अर्थ—घट वस्त्र इत्यादिक सम्बन्धी रचना की परिणति विशेष को पुद्गल द्रव्य के बतलाने वाला स्वजात्यसद्भूत व्यवहार उपनय है। अथवा स्कन्धरूप निजपर्यायों में पुद्गल है इस प्रकार का कथन करने वाला स्वजाति से असद्भूतव्यवहाररूप स्वजातीयासद्भूतव्यवहारोपनय है।

विजात्यसद्भूतव्यवहारोपनय—

विजात्यसद्भूतव्यवहारो यथा मूर्तं मतिज्ञानं यतो मूर्तद्रव्येण जनितम् ॥८६॥

सूत्रार्थ—विजात्यसद्भूतव्यवहार उपनय जैसे मतिज्ञान मूर्त है क्योंकि मूर्तद्रव्य से उत्पन्न हुआ है।

विशेषार्थ—जो नय विजातीय द्रव्यादिक में विजातीय द्रव्यादिक का संस्थापन करता है वह विजात्यसद्भूतव्यवहार उपनय है। जैसे—मूर्तिक मतिज्ञानावरण कर्म और वीर्यांतरायकर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाला क्षायोपशमिक मतिज्ञान मूर्तिक है। यहाँ पर मतिज्ञान नामक आत्मगुण में पौद्गलिक मूर्तत्वगुण कहा गया है।

संस्कृत नयचक्र पृ० २२ पर इस उपनय का स्वरूप इस प्रकार कहा गया है।

'एकेन्द्रियादिजीवानां शरीराणि जीवस्वरूपाणीति विजात्यसद्भूत-व्यवहारोपनयः। ...एकेन्द्रियादिजीवानां देहं जीव इति ध्रुवं वक्त्य-सद्भूतको नूनं स्याद् विजातीति संज्ञितः।'

अर्थ—एकेन्द्रियादि जीवों के शरीर जीवस्वरूप हैं, इस प्रकार से कथन करने वाला विजातीय-असद्भूत-व्यवहार-उपनय है। एकेन्द्रियादि जीवों का शरीर जीव है, इस प्रकार कथन करने वाला विजातीय-असद्भूत-व्यवहार-उपनय है। यहाँ विजाति द्रव्य को विजाति द्रव्य में कहा गया है।

शरीरमपि यो जीवं प्राणिनो वदति स्फुटं।
असद्भूतो विजातीयो ज्ञातव्यो मुनिवाक्यतः ॥१॥
मूर्तमेवमिति ज्ञानं कर्मणा जनितं यतः।
यदि नैव भवेन्मूर्तं मूर्तेन स्खलितं कुतः ॥२॥

[संस्कृत नयचक्र पृ० ४५]

अर्थ—जो प्राणियों के शरीर को ही जीव बतलाता है, वह स्पष्टतया विजातीय-असद्भूतव्यवहार उपनय समझना चाहिए, क्योंकि विजातीय पुद्गल द्रव्य में विजातीय जीव द्रव्य का कथन किया गया है ॥१॥ विजातीय गुण में विजातीय गुण का आरोपण करने से भी असद्भूत व्यवहार होता है। जैसे—कर्म से जनित होने से ज्ञान मूर्त है, यदि मूर्त नहीं है तो मूर्त से स्खलित क्यों होता। मतिज्ञान मूर्त द्रव्य से स्खलित होता है अतः मतिज्ञान को मूर्त कहना सत्य है, सर्वथा असत्य नहीं है।

स्वजातिविजात्यसद्भूतव्यवहार उपनय—

स्वजातिविजात्यसद्भूतव्यवहारो यथा ज्ञेये जीवेऽजीवे ज्ञानमिति कथनं ज्ञानस्य विषयात् ॥८७॥

सूत्रार्थ—ज्ञान का विषय होने के कारण जीव अजीव ज्ञेयों में ज्ञान का

कथन करना स्वजातिविजात्यसद्भूतव्यवहारोपनय है।

विशेपार्थ—जीव और अजीव ज्ञान का विषय होने के कारण विषय में विषयी का उपचार करके जीव-अजीव ज्ञेय को ज्ञान कहा गया है। यहां पर ज्ञान गुण की अपेक्षा जीव स्वजातीय है और अजीव विजातीय है। जीव की अपेक्षा स्वजातीय तथा अजीव की अपेक्षा विजातीय में ज्ञान गुण का कथन किया गया है।

संस्कृत नयचक्र पृ० २२ पर इस नय का स्वरूप निम्न प्रकार कहा गया है—

'जीवपुद्गलानां परस्परसंयोगप्रबंधपरिणतिविशेषकथकः स्वजाति-विजात्यसद्भूतव्यवहारोपनयः। ...स्वजातीतर रूपादिवस्तुश्रद्धेयरूपकः तत् प्रधानं वदत्येवं द्वंद्वग्राही नयो भवेत्।'

अर्थ—जीव और पुद्गलों के परस्पर संयोग रचनारूप परिणतिविशेष को बतलाने वाला स्वजातिविजातीय-असद्भूतव्यवहार-उपनय है। स्वजातीय और विजातीय वस्तु श्रद्धेयरूप हैं उसको प्रधान करके जो कहता है वह द्वंद्वसंयोग को अर्थात् स्वजाति-विजाति-संयोग को ग्रहण करने वाला स्वजातिविजातीय-असद्भूत-व्यवहार उपनय है।

॥ इस प्रकार असद्भूतव्यवहारनय के तीनों भेदों का कथन हुआ ॥

उपचरितासद्भूतव्यवहारस्त्रेधा ॥८८॥

सूत्रार्थ—उपचरित असद्भूत व्यवहारनय तीन प्रकार की है।

विशेषार्थ—(१) स्वजात्युपचरित-असद्भूतव्यवहार-उपनय, (२) विजात्युपचरित-असद्भूतव्यवहार-उपनय, (३) स्वजातिविजात्युपचरित-असद्भूत-व्यवहार-उपनय के भेद से-उपचरित असद्भूतव्यवहार-उपनय तीन प्रकार का है। इनका कथन आगे किया जा रहा है।

संस्कृत नयचक्र में पृ० ४८ पर कथन इस प्रकार है—

'उपचारादप्युपचारं यः करोति स उपचरितासद्भूतव्यवहारः। स

च सत्यासत्योभयार्थेन त्रिधा।'

'देशनाथो यथा देशे जातो यथार्थनायकः।
देशार्थो जल्पमानो मे सत्यासत्योभयार्थकः ॥१॥'

अर्थ—जो उपचार से भी उपचार करता है वह उपचरितअसद्भूतव्यवहार उपनय है। वह सत्योपचारासद्भूत, असत्योपचारासद्भूत और उभयोपचारासद्भूत के भेद से तीन प्रकार का है।

जो नय किसी प्रयोजन या निमित्त से बिलकुल भिन्न स्वजातीय, विजातीय तथा स्वजातिविजातीय पदार्थों को अभेदरूप से ग्रहण करता है वह उपचरितासद्भूतव्यवहार उपनय है।

प्राकृत नयचक्र पृ० १६ पर भी इसी प्रकार कहा है—

उवयारा उवयारं सच्चासच्चेसु उहयअत्थेसु।
सज्जाइइयरमिस्सो उवयरिओ कुणइ ववहारो ॥७१॥

स्वजातीयोपचरितासद्भूतव्यवहारो विजातीयोपचरितासद्भूतव्यवहारः सजातीयविजातियोपचरितासद्भूतव्यवहारः इति उपचरितासद्भूतोपि त्रेधा।

देसवई देसत्थो अत्थवणिज्जो तहेव जंपंतो।
मे देसं मे दव्वं सच्चासच्चंपि उभयत्थं ॥७२॥

अर्थ—जो नय सत्य (स्वजाति) पदार्थ में असत्य (विजातीय) पदार्थ में और उभय (स्वजातीय-विजातीय) पदार्थ में उपचार से भी उपचार करता है वह स्वजाति - उपचरित - असद्भूत - व्यवहार-उपनय, विजाति-उपचरित-असद्भूत-व्यवहार-उपनय और स्वजाति-विजाति-उपचरित-असद्भूत-व्यवहार-उपनय है।

स्वजातीयोपचरितासद्भूतव्यवहार, विजातीयोपचरितासद्भूतव्यवहार, स्वजातीयविजातियोपचरितासद्भूतव्यवहार के भेद से उपचरितासद्भूतव्यवहार उपनय तीन प्रकार का है।

जिस प्रकार देश का स्वामी देशपति तथा अर्थ का स्वामी अर्थपति होता है उसी प्रकार सत्यपदार्थ (स्वजातीय पदार्थ), असत्य (विजातीय) पदार्थ और स्वजातीय-विजातीयपदार्थों को मेरा देश, मेरा द्रव्य है इत्यादि कहा जाता है।

राजा देश का स्वामी होता है और सेठ (धनपति) धन का स्वामी होता है। स्त्री का स्वामी पति होता है। यह सब कथन यद्यपि उपचरित-असद्भूत-व्यवहार उपनय का विषय है तथापि यथार्थ है। यदि यथार्थ न होता तो सीता के हरी जाने पर सीतापति श्री रामचन्द्र जी रावण से युद्ध क्यों करते ? इसी प्रकार देश की रक्षा के लिए देशपति राजा शत्रु के साथ युद्ध क्यों करते ? तथा रावण, कौरव आदि दोषी क्यों होते ? इससे सिद्ध है कि स्त्री, धन व देश आदि का स्वामिपना यथार्थ है। यदि इस सम्बन्ध को अर्थात् स्वामिपने को सर्वथा अयथार्थ मान लिया जाय तो अराजकता और अन्याय फैल जायगा। चोरी आदि पाप नहीं ठहरेगा। इसका विशेष कथन सूत्र २१३ की टीका में है।

स्वजाति-उपचरित-असद्भूत-व्यवहार-उपनय—

स्वजात्युपचरितासद्भूतव्यवहारो यथा पुत्रदारादि मम ॥८९॥

सूत्रार्थ—पुत्र, स्त्री आदि मेरे हैं ऐसा कहना स्वजात्युपचरितासद्भूत-व्यवहारनय का विषय है।

विशेषार्थ—जो नय उपचार से स्वजातीय द्रव्य का स्वजातीय द्रव्य को स्वामी बतलाता है वह स्वजात्युपचरितासद्भूतव्यवहार उपनय है। जैसे—पुत्र, स्त्री आदिक मेरे हैं। संस्कृत नयचक्र में भी कहा है—

पुत्रमित्रकलत्रादि ममैतदहमेव वा।
वदन्नेवं भवत्येषोऽसद्भूतो ह्युपचारवान् ॥२॥ [पृ० ४८]

'ये पुत्र, मित्र, स्त्री आदि मेरे हैं, मैं इनका स्वामी हूँ' यह कथन सत्योपचार असद्भूत व्यवहार की अपेक्षा है। लोकोपचार में यथार्थ स्वामित्वपना

पाया जाता है किन्तु आत्मरूप नहीं है इसलिये असद्भूत है ।

प्राकृत नयचक्र में भी इसी प्रकार कहा है—

पुत्ताइबंधुवग्ग अहं च मम संपयाइ जंपंतो ।
उवयारासब्भूओ सज्जाइदव्वेसु णायव्वो ॥७३॥ [पृ० १७]

अर्थ—पुत्रादि वन्धु वर्ग का मैं स्वामी हूँ, ये मेरी सम्पदा है ऐसा कहना स्वजातिउपचरित-असद्भूत-व्यवहार उपनय है ।

इस नय का विषय यथार्थ है । सूत्र ८८ व २१३ के विशेषार्थ में विशद कथन है ।

विजात्युपचरितासद्भूतव्यवहार उपनय—

विजात्युपचरितासद्भूतव्यवहारो यथा वस्त्राभरणहेमरत्नादिमम ॥९०॥

सूत्रार्थ—वस्त्र, आभूषण, स्वर्ण, रत्नादि मेरे हैं ऐसा कहना विजात्युपचरित-असद्भूत-व्यवहार उपनय है ।

विशेषार्थ—सोना, चाँदी आदि अपनी जाति के द्रव्य नहीं हैं, अतः विजातीय द्रव्य है । आत्मरूप नहीं हैं अतः असद्भूत हैं । तथापि लोकोपचार में यथार्थ स्वामिपना पाया जाता है । संस्कृत नयचक्र पृ० ४८ पर कहा भी है—

हेमाभरणवस्त्रादि ममेदं यो हि भाषते ।
उपचारादसद्भूतो विद्वद्भिः परिभाषितः ॥३॥

अर्थ—' सोना, आभरण वस्त्र आदि मेरे हैं' जो नय ऐसा कहता है, विद्वज्जनों ने उस नय को विजात्युपचरितासद्भूतव्यवहार नय कहा है ।

प्राकृत नयचक्र पृ० १७ पर भी इसी प्रकार कहा है—

आहरणहेमरयणं वत्थादीया ममन्ति जंपंतो ।
उवयारअसब्भूओ विजादिदव्वेसु णायव्वो ॥७४॥

'आभरण, सोना, वस्त्रादि मेरे हैं' ऐसा कहना विजात्युपचरितासद्भूत-

व्यवहार-उपनय जानना चाहिए। सूत्र ८८ व २१३ में इसका विशेष कथन है।

स्वजातिविजात्युपचरितासद्भूतव्यवहार उपनय—

स्वजातिविजात्युपचरितासद्भूतव्यवहारो यथा देशराज्य-दुर्गादि मम ॥९१॥

सूत्रार्थ—'देश, राज्य, दुर्ग आदि मेरे हैं' यह स्वजातिविजात्युपचरित-असद्भूतव्यवहार उपनय का विषय है।

विशेषार्थ—यहाँ पर मिश्र द्रव्य का स्वामिपना बतलाया गया है, क्योंकि देशादिक में सचेतन और अचेतन दोनों ही प्रकार के पदार्थों का समावेश रहता है। 'मैं' की अपेक्षा से देशादिक में रहने वाले सचेतन पदार्थ स्वजातीय हैं और अचेतन पदार्थ विजातीय हैं। अतः 'यह देश अथवा राज्य मेरा है' ऐसा ग्रहण करना स्वजातिविजात्युपचरितअसद्भूतव्यवहारनय है। यहाँ पर सचेतन-अचेतन मिश्रित पदार्थ को अभेदरूप से ग्रहण किया गया है।

देशं दुर्गं च राज्यं च गृह्णातीह ममेति यः।
उभयार्थोपचारत्वादसद्भूतोपचारकः ॥४॥

[संस्कृत नयचक्र पृ० ४८]

अर्थ जो नय देश, दुर्ग, राज्य आदि को ग्रहण करता है वह नय चेतना-चेतन मिश्र पृथक् पदार्थ को अपने बतलाता है। वह स्वजातिविजात्युपचरिता-सद्भूत व्यवहार उपनय है।

देसं च रज्ज दुग्गं एवं जो चेव भणइ मम सव्वं।
उहयत्थे उपयरिओ होइ असब्भूयववहारो ॥७५॥

[प्राकृत नयचक्र पृ० १७]

अर्थ—देश, राज्य, दुर्ग ये सब मेरे हैं ऐसा जो नय कहता है वह स्वजाति-विजात्युपचरितासद्भूतव्यवहार उपनय है।

॥ उपचरितअसद्भूतव्यवहार उपनय के तीनों भेदों का कथन हुआ ॥

गुण-व्युत्पत्ति अधिकार

सहभुवो गुणाः, क्रमवर्तिनः पर्यायाः ॥९२॥

सूत्रार्थ—साथ में होने वाले गुण हैं और क्रम क्रम से होने वाली पर्यायें हैं। अर्थात् अन्वयी गुण हैं और व्यतिरेक परिणाम पर्यायें हैं।

विशेषार्थ—संस्कृत नयचक्र में पृ० ५७ पर भी कहा है—

'सहभुवो गुणाः। क्रमभाविनः पर्यायाः।'

अर्थ—साथ में होने वाला गुण है और क्रमवर्ती पर्यायें हैं।

ऐसा नहीं है कि द्रव्य पहिले हो और बाद में गुणों से सम्बन्ध हुआ हो। किन्तु द्रव्य और गुण अनादि काल से हैं, इनका कभी भी विच्छेद नहीं होता है अतः गुण का लक्षण 'सहभुवः' कहा है। अथवा जो निरन्तर द्रव्य में रहते हैं और अन्य गुण से रहित हैं वे गुण हैं। [मोक्षशास्त्र ५/४१]

विशेष गुण का लक्षण—

गुण्यते पृथक्क्रियते द्रव्यं द्रव्याद्यैस्तेगुणाः ॥९३॥

सूत्रार्थ—जिनके द्वारा एक द्रव्य दूसरे द्रव्य से पृथक् किया जाता है, वे (विशेष) गुण कहलाते हैं।

विशेषार्थ—संस्कृत नयचक्र पृ० ५७ पर भी कहा है—

'गुणव्युत्पत्तिर्गुण्यते पृथक्क्रियते द्रव्याद्द्रव्यं येनासौ विशेषगुणः।'

अर्थ—जिसके द्वारा एक द्रव्य दूसरे द्रव्य से पृथक् किया जाता है वह विशेषगुण है, यह गुण का व्युत्पत्ति अर्थ है।

सामान्यगुण और विशेषगुण के भेद से गुण दो प्रकार के हैं। सामान्यगुण सब द्रव्यों में पाये जाते हैं। उन सामान्यगुणों के द्वारा तो एक द्रव्य दूसरे द्रव्य से पृथक् नहीं किया जा सकता, विशेषगुणों के द्वारा ही एक द्रव्य दूसरे द्रव्य से पृथक् किया जा सकता है। अतः गुण का यह व्युत्पत्ति अर्थ विशेष गुण में ही घटित होता है और 'सहभुवो गुणाः' अथवा 'द्रव्याश्रया

निर्गुणा गुणाः ॥४१॥ [मोक्षशास्त्र अ० ५]' ये दोनों लक्षण सब गुणों में घटित होते हैं।

अस्तीत्येतस्य भावोऽस्तित्वं सद्रूपत्वम् ॥६४॥

सूत्रार्थ—'अस्ति' इसके भाव को अर्थात् सत्रूपपने को अस्तित्व कहते हैं।

विशेषार्थ—संस्कृत नयचक्र पृ० ५७ पर भी कहा है—

'अस्तित्वस्य भावोऽस्तित्वं। सीदति स्वकीयान् गुणपर्यायान् व्यापनोतीति सत्।'

अर्थ—अस्तित्व का भाव अस्तित्व है। अपने गुण और पर्याय में व्याप्त होने वाला सत् है।

अस्तित्व गुण का विशेष कथन सूत्र ६ की टीका में किया जा चुका है।

वस्तुनोभावो वस्तुत्वम्, सामान्यविशेषात्मकं वस्तु ॥६५॥

सूत्रार्थ—सामान्य-विशेषात्मक वस्तु होती है। उस वस्तु का जो भाव वह वस्तुत्व है।

विशेषार्थ—यही लक्षण संस्कृत नयचक्र पृ० ५७ पर कहा गया है।

परीक्षामुख चतुर्थ अध्याय में वस्तु का तथा सामान्य व विशेष का लक्षण निम्न प्रकार कहा गया है—

'सामान्यविशेषात्मा तदर्थो विषयः ॥१॥ सामान्यं द्वेधा तिर्यगूर्ध्वताभेदात् ॥३॥ सदृशपरिणामस्तिर्यक्, खण्डमुण्डादिषु गोत्ववत् ॥४॥ परापरविवर्तव्यापि द्रव्यमूर्ध्वता मृदिव स्थासादिषु ॥५॥ विशेषश्च ॥६॥ पर्याय व्यतिरेकभेदात् ॥७॥ एकस्मिन् द्रव्ये क्रमभाविनः परिणामाः पर्याया आत्मनि हर्षविषादादिवत् ॥८॥ अर्थान्तरगतो विसदृशपरिणामो व्यतिरेको गोमहिषादिवत् ॥९॥

अर्थ—सामान्य-विशेषात्मक पदार्थ प्रमाण का विषय है ॥१॥ तिर्यक्

सामान्य और ऊर्ध्वतासामान्य के भेद से सामान्य दो प्रकार का है ॥३॥ सदृश अर्थात् सामान्य परिणाम को तिर्यक् सामान्य कहते हैं, जैसे—खण्डी, मुण्डी आदि गायों में गोपना समान रूप से रहता है ॥४॥ पूर्व और उत्तर पर्यायों में रहने वाले द्रव्य को ऊर्ध्वता सामान्य कहते हैं। जैसे—स्थास, कोश, कुशूल आदि घट की पर्यायों में मिट्टी रहती है ॥५॥ विशेष भी दो प्रकार का है, पर्याय, व्यतिरेक के भेद से ॥६-७॥ एक द्रव्य में क्रम से होने वाले परिणाम को पर्याय कहते हैं। जैसे—आत्मा में हर्ष, विषाद आदि परिणाम क्रम से होते हैं, वे ही पर्याय हैं ॥८॥ एक पदार्थ की अपेक्षा अन्य पदार्थ में रहने वाले विसदृश परिणाम को व्यतिरेक कहते हैं। जैसे—गाय, भैंस आदि में विलक्षणपना पाया जाता है ॥९॥

द्रव्यस्यभावो द्रव्यत्वम्, निजनिजप्रदेशसमूहैरखण्डवृत्या स्वभावविभावपर्यायान् द्रवति द्रोष्यति अदुद्रुवदिति द्रव्यम् ।९६।

अर्थ—जो अपने अपने प्रदेश समूह के द्वारा अखण्डपने से अपने स्वभाव-विभाव पर्यायों को प्राप्त होता है, होवेगा, हो चुका है, वह द्रव्य है। उस द्रव्य का जो भाव है, वह द्रव्यत्व है।

विशेषार्थ—वस्तु के सामान्य अंश को द्रव्यत्व कहते हैं, क्योंकि वह सामान्य ही विशेषों (पर्यायों) को प्राप्त होता है। जैसे—पिंड और घट पर्यायों को मिट्टी प्राप्त होती है। सामान्य के बिना विशेष नहीं हो सकते और विशेष के बिना सामान्य नहीं रह सकता।

पंचास्तिकाय गाथा ९ की टीका में भी कहा है—

'द्रवति गच्छति सामान्यरूपेण स्वरूपेण व्याप्नोति तांस्तान् क्रमभुवः सहभुवश्च सद्भावपर्यायान् स्वभावविशेषानित्यनुगतार्थया निरुक्त्या द्रव्यं व्याख्यातम्।'

अर्थ—उन उन क्रमभावी, सहभावी पर्यायों को अर्थात् स्वभावविशेषों को जो द्रवित होता है, प्राप्त होता है, सामान्यरूप स्वरूप से व्याप्त होता है, वह द्रव्य है। इस प्रकार निरुक्ति से द्रव्य की व्याख्या की गई।

सद्द्रव्यलक्षणम्, सीदति स्वकीयान् गुणपर्यायान् व्याप्नोतीति सत्; उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् ॥६७॥

सूत्रार्थ—द्रव्य का लक्षण सत् है। अपने गुण और पर्यायों को व्याप्त होने वाला सत् है। अथवा जो उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से युक्त है, वह सत् है।

विशेषार्थ—सूत्र ६ में 'सद्द्रव्यलक्षणम्' और सूत्र ७ में 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्' का अर्थ कहा जा चुका है।

द्रव्यसामान्य ही अपने गुण और पर्यायों में व्याप्त होता है, वह द्रव्य सामान्य ही द्रव्यार्थिक नय का विषय है। जैसे—स्वर्ण ही अपने पीतत्व आदि गुणों को तथा कुण्डल आदि पर्यायों को प्राप्त होता है। द्रव्य आधार है; गुण और पर्यायें आधेय हैं। कहा भी है—

'द्रव्याश्रयानिर्गुणागुणाः ॥४१॥' [मोक्षशास्त्र अ० ५]

जिन के रहने का आश्रय द्रव्य है, वे द्रव्याश्रय कहलाते हैं अर्थात् जो सदा द्रव्य के आश्रय से रहते हैं और जो गुणों से रहित हैं, वे गुण हैं।

प्रमेयस्यभावः प्रमेयत्वम्, प्रमाणेन स्वपररूपं परिच्छेद्यं प्रमेयम् ॥६८॥

सूत्रार्थ—प्रमाण के द्वारा जानने के योग्य जो स्व और परस्वरूप है, वह प्रमेय है। उस प्रमेय के भाव को प्रमेयत्व कहते हैं।

विशेषार्थ—परीक्षामुख में प्रमाण का लक्षण निम्न प्रकार कहा है—

'स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम् ॥१॥'

अर्थ—स्व और अपूर्व अर्थ (अनिश्चित अर्थ) का निश्चयात्मक ज्ञान प्रमाण है।

अथवा, जो ज्ञान स्व और पर स्वरूप को विशेष रूप से निश्चय करे, वह प्रमाण है। उस प्रमाण के द्वारा जो जानने योग्य है अथवा जो प्रमाण के द्वारा जाना जाय, वह प्रमेय है। उस प्रमेय के भाव को प्रमेयत्व कहते हैं।

जिस शक्ति के निमित्त से द्रव्य ज्ञान का विषय अवश्य होता है वह प्रमेयत्व गुण है। यदि द्रव्य में प्रमेयत्व गुण न हो तो वह किसी भी ज्ञान का विषय नहीं हो सकता था।

यद्यपि अन्य गुणों में और पर्यायों में प्रमेयत्व गुण नहीं है तथापि वे गुण और पर्याय द्रव्य से अभिन्न हैं इसलिए वे भी ज्ञान का विषय बन जाते हैं। यदि कहा जाय कि भूत और भावि पर्यायों का वर्तमान काल में द्रव्य में अभाव है, अर्थात् उनका प्रध्वंसाभाव और प्रागभाव है, वे ज्ञान का विषय नहीं हो सकतीं, क्योंकि उनमें प्रमेयत्व गुण नहीं पाया जाता तो ऐसा कहना ठीक नहीं है। यद्यपि भूत और भावि पर्यायों का वर्तमान में अभाव है, क्योंकि एक समय में एक ही पर्याय रहती है, तथापि वे भूत और भावि पर्यायें वर्तमान पर्यायों में शक्तिरूप से रहती हैं और वर्तमान पर्याय द्रव्य से अभिन्न होने के कारण ज्ञान का विषय है। अतः वर्तमान पर्याय में शक्तिरूप से पड़ी हुई भूत और भावि पर्यायें भी ज्ञान का विषय बन जाती हैं। जयधवल पु० १ पृ० २२ व २३ पर कहा भी है—

'जो जाना जाता है उसे अर्थ कहते हैं, इस व्युत्पत्ति के अनुसार वर्तमान पर्याय में ही अर्थपना पाया जाता है। शंका—वह अर्थ अतीत और अनागत पर्यायों में भी समान है? समाधान—नहीं, क्योंकि अनागत और अतीत पर्यायों का ग्रहण वर्तमान अर्थ के ग्रहणपूर्वक होता है। अर्थात् अतीत और अनागत पर्यायें भूतशक्ति और भविष्यत् शक्ति रूप से वर्तमान अर्थ में ही विद्यमान रहती हैं। अतः उनका ग्रहण वर्तमान अर्थ के ग्रहणपूर्वक ही हो सकता है, इसलिये उन्हें 'अर्थ' यह संज्ञा नहीं दी गई।

[नोट—इसका विशेष कथन सूत्र ३७ के विशेषार्थ में है।]

अगुरुलघोर्भावोऽगुरुलघुत्वम् सूक्ष्मा अवाग्गोचराः प्रतिक्षणं वर्तमाना आगमप्रमाण्यादभ्युपगम्या अगुरुलघुगुणाः ॥९९॥

[1]सूक्ष्मं जिनोदितं तत्त्वं हेतुभिर्नैव हन्यते।
आज्ञासिद्धं तु तद्ग्राह्यं नान्यथावादिनो जिनाः ॥५॥

---

१. यह गाथा पंचास्तिकाय गाथा १६ की टीका में उद्धृत है।

सूत्रार्थ—जो सूक्ष्म है, वचन के अगोचर है, प्रतिसमय में परिणमनशील है तथा आगम प्रमाण से जाना जाता है, वह अगुरुलघुगुण है।

गाथार्थ—जिनेन्द्र भगवान के कहे हुए सूक्ष्म तत्त्व हेतुओं के द्वारा खण्डित नहीं किये जा सकते। उन आज्ञासिद्ध सूक्ष्म तत्त्वों को ग्रहण करना चाहिये क्योंकि जिनेन्द्र भगवान अन्यथावादी नहीं होते।

विशेषार्थ—अगुरुलघु गुण के विषय में सूत्र ९ व सूत्र १७ के विशेषार्थ में बहुत कुछ कहा जा चुका है, वहां से देख लेना चाहिये।

अनेक विषमभवरूपी गहन संसार में प्राप्ति के हेतु कर्मरूपी शत्रु हैं। इन कर्मरूपी शत्रुओं को जिसने जीत लिया अथवा क्षय कर दिया, वह जिन है। उन जिनेन्द्र भगवान ने ही अगुरुलघुगुण का कथन किया है और वह अनुमान आदि से भी सिद्ध होता है।

प्रदेशस्यभावः प्रदेशत्वं क्षेत्रत्वं अविभागिपुद्गलपरमाणु-नावष्टब्धम् ॥१००॥

सूत्रार्थ—प्रदेश का भाव प्रदेशत्व है अथवा क्षेत्रत्व है। एक अविभागी पुद्गल परमाणु के द्वारा व्याप्त क्षेत्र को प्रदेश कहते हैं।

विशेषार्थ—वृहद्द्रव्यसंग्रह में भी प्रदेश का लक्षण निम्न प्रकार कहा है—

जावदियं आयासं अविभागिपुग्गलाणुवट्ठद्धं।
तं खु पदेसं जाणे सव्वाणुट्ठाणदाणरिहं ॥२७॥

अर्थ—जितना आकाश का क्षेत्र अविभागी पुद्गल परमाणु द्वारा रोका जाता है वह प्रदेश है।

प्राकृत नयचक्र पृ० ५८ पर प्रदेश का लक्षण निम्न प्रकार कहा है—

जेत्तियमेत्तं खेतं अणूण रुद्धं खु गयणदव्वस्स।
तं च पएसं भणियं जाण तुमं सव्वदरसीहिं ॥१४१॥

अर्थ—आकाश द्रव्य के जितने क्षेत्र को पुद्गल परमाणु रोकता है, उस को प्रदेश जानो, ऐसा सर्वज्ञ ने कहा है।

इस आकाश प्रदेश के द्वारा ही धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य, जीव-द्रव्य और कालद्रव्य में प्रदेशों की गणना की जाती है।

चेतनस्य भावश्चेतनत्वम् चैतन्यमनुभवनम् ॥१०१॥

चैतन्यमनुभूतिः स्यात् सा क्रियारूपमेव च।
क्रिया मनोवचःकायेष्वन्विता वर्तते ध्रुवम् ॥६॥

सूत्रार्थ—चेतन के भाव को अर्थात् पदार्थों के अनुभव को चेतनत्व कहते हैं।

गाथार्थ—चैतन्य नाम अनुभूति का है। वह अनुभूति क्रियारूप अर्थात् कर्तव्यस्वरूप ही होती है। मन, वचन, काय में अन्वित (सहित) वह क्रिया नित्य होती रहती है।

विशेषार्थ—जीवाजीवादि पदार्थों के अनुभवन को, जानने को चेतना कहते हैं। वह अनुभवन ही अनुभूति है। अथवा द्रव्यस्वरूप चिंतन को अनुभूति कहते हैं। श्री अमृतचन्द्राचार्य ने पंचास्तिकाय गाथा ३९ की टीका में लिखा है—

'चेतयंते अनुभवन्ति उपलभंते विदंतीत्येकार्थाश्चेतनानुभूत्युपलब्धिवेदनानामेकार्थत्वात्।'

अर्थ—चेतता है, अनुभव करता है, उपलब्ध करता है और वेदता है ये एकार्थ हैं क्योंकि चेतना, अनुभूति, उपलब्धि और वेदना का एकार्थ है।

अचेतनस्य भावोऽचेतनत्वमचैतन्यमननुभवनम् ॥१०२॥

सूत्रार्थ—अचेतन के भाव को अर्थात् पदार्थों के अननुभवन को अचेतनत्व कहते हैं।

विशेषार्थ—जीव के अतिरिक्त पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये पांचों द्रव्य अचेतन हैं, जड़ हैं, क्योंकि इनमें जानने की शक्ति अर्थात् अनुभवन का अभाव है।

मूर्तस्य भावो मूर्तत्वं रूपादिमत्त्वम् ॥१०३॥

सूत्रार्थ—मूर्त के भाव को अर्थात् रूप, रस, गन्ध, स्पर्शयुक्तता को मूर्त कहते हैं।

विशेषार्थ—पुद्गल और संसारी जीव मूर्त हैं। सूत्र २८ में भी जीव के मूर्त स्वभाव कहा है। श्री अमृतचन्द्रादि अन्य आचार्यों ने भी संसारी जीव को मूर्तिक कहा है।

तथा च मूर्तिमानात्मा सुराभिभवदर्शनात्।
नह्यमूर्त्तस्य नभसो मदिरा मदकारिणी ॥१६॥ [तत्त्वार्थसार बंध]

अर्थात्—आत्मा मूर्तिक होने के कारण मदिरा से पागल हो जाती है, किन्तु अमूर्तिक आकाश को मदिरा मदकारिणी नहीं होती है।

'यथा खलु पयःपूरः प्रदेशस्वादाभ्यां पिचुमन्दचन्दनादिवनराजीं परिणमन्न द्रवत्यस्वादुत्वस्वभावमुपलभते, तथात्मापि प्रदेशभावाभ्यां कर्मपरिणमनान्नामूर्तत्वनिरुपरागविशुद्धिमत्त्वस्वभावमुपलभते।'
[प्रवचनसार गा० ११८ टीका]

अर्थ—जैसे पानी का पूर प्रदेश से और स्वाद से निम्ब, चन्दनादि वनराजिरूप परिणमित होता हुआ द्रवत्व और स्वादुत्वरूप स्वभाव को उपलब्ध नहीं करता, उसी प्रकार आत्मा भी प्रदेश से और भाव से स्वकर्मरूप परिणमित होने से अमूर्तत्व और विकाररहित विशुद्ध स्वभाव को उपलब्ध नहीं करता।

जीवाजीवं दव्वं रूवारूविंत्ति होदि पत्तेयं।
संसारत्था रूवा कम्मविमुक्का अरूवगया ॥
[गो० जीवकांड ५६३]

अर्थात्—संसारी जीव रूपी (मूर्तिक) हैं और कर्मरहित सिद्धजीव अमूर्तिक हैं।

'कम्मसंबंधवसेण पोग्गलभावमुवगय जीवदव्वाणं च पच्चक्खेण परिच्छित्तिं कुणइ ओहिणाणं।' [जयधवल पु० १ पृ० ४३]

अर्थ—कर्म के सम्बन्ध से पुद्गल भाव को प्राप्त हुए जीवों को जो प्रत्यक्षरूप से जानता है, वह अवधिज्ञान है। धवल पु० १३ पृ० ३३३ पर भी इसी प्रकार कहा है।

'अनादिबन्धनबद्धत्वतो मूर्तानां जीवावयवानां मूर्तेण शरीरेण संम्बन्धं प्रति विरोधासिद्धेः।' [धवल पु० १ पृ० २९२]

अर्थ—जीव के प्रदेश अनादिकालीन बन्धन से बद्ध होने के कारण मूर्त हैं अतः उनका मूर्त शरीर के साथ सम्बन्ध होने में कोई विरोध नहीं आता।

इसी प्रकार धवल पु० १६ पृ० ५१२ पर भी कहा है।

धवल पु० १५ पृ० ३२, पु० १४ पृ० ४५ पर कहा है 'अनादिकालीन बन्धन से बद्ध रहने के कारण जीव के अमूर्तत्व का अभाव है।'

अमूर्तस्य भावोऽमूर्तत्वं रूपादिरहितत्वम् ॥१०४॥

सूत्रार्थ—अमूर्त के भाव को अर्थात् स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण से रहितपने को अमूर्तत्व कहते हैं।

विशेषार्थ—सिद्धजीव, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य, कालद्रव्य ये अमूर्तिक हैं। इनमें स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण नहीं पाया जाता है और पुद्गल द्रव्य से बंधे हुए भी नहीं हैं, इसलिये असद्भूत व्यवहारनय से भी इनके मूर्त-पना नहीं है।

॥ इस प्रकार गुणों की व्युत्पत्ति का कथन हुआ ॥

पर्याय की व्युत्पत्ति

स्वभावविभावरूपतया याति पर्येति परिणमतीति पर्यायः ॥१०५॥

सूत्रार्थ—जो स्वभाव विभावरूप से सदैव परिणमन करती रहती है, वह पर्याय है।

विशेषार्थ—सूत्र १५ में 'गुणविकाराः पर्यायाः' कहा है। परि+आयः

=पर्यायः है। परि का अर्थ समन्तात है और आयः का अर्थ अय गतौ अयनं है।

स्वभाव और विभाव के भेद से पर्याय दो प्रकार की है। बन्धन से रहित शुद्ध द्रव्यों की अगुरुलघुगुण की षड्वृद्धि हानि के द्वारा स्वभाव पर्याय होती है। बन्धन को प्राप्त अशुद्ध द्रव्यों की परनिमित्तक विभाव पर्याय होती है। इसका विशेष कथन सूत्र १६ के विशेषार्थ में है।

द्रव्य का लक्षण उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य है। अर्थात् द्रव्य में प्रतिसमय पूर्व पर्याय का व्यय और उत्तर पर्याय का उत्पाद होता रहता है। यही द्रव्य का परिणमन है। सिद्धजीव, पुद्गल परमाणु, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाश-द्रव्य और कालद्रव्य इनमें स्वभाव परिणमन होने से स्वभाव पर्यायें होती हैं। संसारीजीव और पुद्गलस्कंध अशुद्ध द्रव्य हैं, इनमें विभाव पर्याय होती हैं।

।। इस प्रकार पर्याय की व्युत्पत्ति का कथन हुआ ।।

स्वभावव्युत्पत्ति अधिकार

स्वभावलाभादच्युतत्वादस्तिस्वभावः ।।१०६।।

सूत्रार्थ—जिस द्रव्य को जो स्वभाव प्राप्त है उससे कभी भी च्युत नहीं होना अस्तिस्वभाव है।

विशेषार्थ—जीव का चेतन स्वभाव है। चेतन स्वभाव से कभी च्युत नहीं होना जीव का अस्तिस्वभाव है। यदि जीव चेतनस्वभाव से च्युत हो जावे तो जीव का अस्तित्व ही समाप्त हो जावेगा

स्व का होना या स्व के द्वारा होना स्वभाव है। लाभ का अर्थ व्याप्ति है।

परस्वरूपेणाभावान्नास्तिस्वभावः ।।१०७।।

सूत्रार्थ—परस्वरूप नहीं होना नास्ति स्वभाव है।

विशेषार्थ—संस्कृत नयचक्र पृ० ६१ पर लिखा है—

'परस्वरूपेणाभावत्वान्नास्तिस्वभावं।'

अर्थात्—परस्वरूप की अपेक्षा अभाव होने से नास्तिस्वभाव है।

सूत्र में 'अभावात्' शब्द का अर्थ अभवनात् है।

निज-निज-नानापर्यायेषु तदेवेदमिति द्रव्यस्योपलम्भान्नित्य-स्वभावः ॥१०८॥

सूत्रार्थ—अपनी अपनी नाना पर्यायों में 'यह वही है' इस प्रकार द्रव्य की प्राप्ति 'नित्य स्वभाव' है।

विशेषार्थ—ध्रुवत्व अंश की अपेक्षा से अथवा सामान्य अंश की अपेक्षा से द्रव्य नित्य स्वभावी है जो द्रव्यार्थिक नय का विषय है। अर्थात् द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा द्रव्य नित्य है।

तस्याप्यनेकपर्यायपरिणामितत्वादनित्यस्वभावः ॥१०९॥

सूत्रार्थ—उस द्रव्य का अनेक पर्यायरूप परिणत होने से अनित्य स्वभाव है।

विशेषार्थ—प्रतिसमय उत्पाद व्यय की दृष्टि से द्रव्य परिणमनशील होने से अथवा पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा द्रव्य अनित्यस्वभावी है। प्रमाण की अपेक्षा द्रव्य नित्यानित्यात्मक है।

स्वभावानामेकाधारत्वादेकस्वभावः ॥११०॥

सूत्रार्थ—सम्पूर्ण स्वभावों का एक आधार होने से एक स्वभाव है।

विशेषार्थ—अनेक गुणों, पर्यायों और स्वभावों का एक द्रव्य सामान्य आधार होने से द्रव्य एक स्वभावी है। संस्कृत नयचक्र पृ० ६५ पर कहा भी है—

'सामान्यरूपेणैकत्वमिति।'

अर्थात्—सामान्य की अपेक्षा एक स्वभाव है।

एकस्याप्यनेकस्वभावोपलम्भादनेक स्वभावः ॥१११॥

सूत्रार्थ—एक ही द्रव्य के अनेक स्वभावों की उपलब्धि होने से 'अनेक स्वभाव' है।

विशेषार्थ—एक ही द्रव्य नाना गुणों, पर्यायों और स्वभावों का आधार

है। यद्यपि आधार एक है किन्तु आधेय अनेक हैं। अतः आधेय की अपेक्षा से अथवा विशेषों की अपेक्षा से द्रव्य अनेक स्वभावी है। संस्कृत नयचक्र पृ० ६५ पर कहा है—'स्यादनेक इति विशेषरूपेणैव कुर्यात्।'

अर्थात्—विशेष की अपेक्षा अनेक स्वभाव है।

गुणगुण्यादिसंज्ञादिभेदाद् भेदस्वभावः ॥११२॥

सूत्रार्थ—गुण गुणी आदि में संज्ञा, संख्या, लक्षण और प्रयोजन की अपेक्षा भेद होने से 'भेद स्वभाव' है।

विशेषार्थ—गुण और गुणी दोनों पृथक् पृथक् संज्ञा हैं अतः संज्ञा की अपेक्षा गुण और गुणी में भेद है। गुण अनेक हैं और गुणी एक है अतः संख्या की अपेक्षा भी गुण और गुणी में भेद है। द्रव्य का लक्षण सत् है और गुण का लक्षण है 'द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः' (जो द्रव्य के आश्रय और अन्य गुणों से रहित है वह गुण है) अतः दोनों का पृथक् पृथक् लक्षण होने से गुण और गुणी में लक्षण की अपेक्षा भी भेद है। द्रव्य के द्वारा लोक का मान किया जाता है और गुण के द्वारा द्रव्य जाना जाता है, इस प्रकार गुण गुणी का पृथक् पृथक् प्रयोजन होने से गुण और गुणी में प्रयोजन की अपेक्षा से भी भेद है। जैसे—जीव द्रव्य में गुणी की संज्ञा 'जीव' है और गुण की संज्ञा 'ज्ञान' है। जो इन्द्रिय, बल, आयु, प्राणापान इन चार प्राणों के द्वारा जीता है, जीता था और जीवेगा; यह जीव द्रव्य—गुणी का लक्षण है। जिस के द्वारा पदार्थ जाना जाय वह ज्ञान है, यह ज्ञान का लक्षण है। जीव द्रव्य—गुणी अविनश्वर रहते हुये भी बंध, मोक्ष आदि पर्याय रूप परिणमन करता है यह जीव गुणी का प्रयोजन है। मात्र पदार्थ को जानना ज्ञान गुण का प्रयोजन है। इस प्रकार गुण गुणी में पर्याय पर्यायी आदि में संज्ञादि की अपेक्षा भेद होने से द्रव्य में भेद स्वभाव है।

संस्कृत नयचक्र पृ० ६५ पर कहा है 'सद्भूतव्यवहारेण भेद इति।' अर्थात् सद्भूतव्यवहारनय की अपेक्षा भेद स्वभाव है।

गुणगुण्याद्येकस्वभावादभेदस्वभावः ॥११३॥

सूत्रार्थ—गुण और गुणी का एक स्वभाव होने से अभेद स्वभाव है।

विशेषार्थ—निश्चयनय अर्थात् द्रव्यार्थिक नय की दृष्टि में एक अखण्ड द्रव्य है उसमें गुणों की कल्पना नहीं है। समयसार[1] गाथा ७ में श्री कुंदकुंद आचार्य ने कहा है कि व्यवहारनय से जीव में दर्शन, ज्ञान, चारित्र है किन्तु निश्चयनय से न दर्शन है, न ज्ञान है, न चारित्र है। द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा जीव में दर्शन, ज्ञान, चारित्र ऐसा भेद नहीं है। संस्कृत नयचक्र पृ० ६५ पर कहा है—'स्यादभेद इति द्रव्यार्थिकेनैव कुर्यात।' अर्थात् द्रव्यार्थिक नय से ही अभेद स्वभाव है।

प्राकृत नयचक्र पृ० ३१ पर कहा है—

गुणपज्जयदो दव्वं दव्वादो ण गुणपज्जयाभिण्णा।
जह्मा तह्मा भणियं दव्वं गुणपज्जयमणण्णं ॥४२॥

अर्थ—गुण, पर्याय से द्रव्य और द्रव्य से गुण, पर्याय भिन्न नहीं हैं अर्थात् प्रदेशभेद नहीं है इसलिए गुण, पर्याय से द्रव्य को अनन्य कहा है अर्थात् गुण गुणी में अभेद स्वभाव कहा है।

भाविकाले परस्वरूपाकार[2]भवनाद्भव्यस्वभावः ॥११४॥

सूत्रार्थ—भाविकाल में पर (आगामी पर्याय) स्वरूप होने से भव्य स्वभाव है।

विशेषार्थ—'पर' शब्द के अनेक अर्थ हैं किन्तु इस सूत्र में भाविकाल की दृष्टि से 'पर' का अर्थ 'आगे' होगा। श्री अमृतचन्द्राचार्य ने भी पंचास्तिकाय गाथा ३७ की टीका में कहा है—

'द्रव्यस्य सर्वदा अभूतपर्यायैः भाव्यमिति।'

अर्थ—द्रव्य सर्वदा अभूत (भावि) पर्यायों से भाव्य है। अर्थात् भावि

---

१. ववहारेणुवदिस्सइ णाणिस्स चरित्त दंसणं णाणं।
णवि णाणं ण चरित्तं ण दंसणं जाणगो सुद्धो॥

२. संस्कृत नयचक्र पृ० ६२ पर 'स्वस्वभाव' पाठ है।

पर्याय रूप होने योग्य है अतः द्रव्य में भव्य भाव है।

प्राकृत नयचक्र पृ० ३८ पर टिप्पण में भी कहा है—

'भवितुं परिणमितुं योग्यत्वं तु भव्यत्वं, तेन विशिष्टत्वाद्-भव्याः।'

अर्थ—होने योग्य अथवा परिणमन करने योग्य वह भव्यत्व है। उस भव्यत्व भाव से विशिष्ट द्रव्य भव्य है।

यद्यपि सूत्र में 'परस्वरूपाकार' है किन्तु संस्कृत नयचक्र में 'स्वस्वभाव' पाठ है। क्योंकि प्रत्येक द्रव्य अपने स्वभाव रूप परिणमन करने योग्य है इसलिए प्रत्येक द्रव्य में भव्य स्वभाव है।

प्राकृत नयचक्र पृ० ४० पर भी कहा है कि भव्य स्वभाव के स्वीकार न करने पर सर्वथा एकान्त से अभव्य भाव मानने पर शून्यता का प्रसंग आ जायगा क्योंकि अपने स्वरूप से भी अभवन अर्थात् नहीं होगा।[1]

अतः संस्कृतनयचक्रानुसार इस सूत्र का पाठ निम्न प्रकार होना चाहिये—

'भाविकाले स्वस्वभावभवनाद्भव्यस्वभावत्वं।'

कालत्रयेऽपि परस्वरूपाकाराभवनादभव्यस्वभावः ॥११५॥

सूत्रार्थ—क्योंकि त्रिकाल में भी परस्वरूपाकार (दूसरे द्रव्य रूप) नहीं होगा अतः अभव्य स्वभाव है।

विशेषार्थ—अनादि काल से छहों द्रव्य एक क्षेत्रावगाह हो रहे हैं किन्तु किसी द्रव्य के एक प्रदेश का भी अन्य द्रव्यरूप परिणमन नहीं हुआ। इसी बात को स्वयं ग्रन्थकार पंचास्तिकाय गाथा ७ उद्धृत करके सिद्ध करते हैं।

अण्णोण्णं पविसंता दिंता ओगासमण्णमण्णस्स।
मेलंता वि य णिच्चं सगं सभावं ण विजहंति ॥७॥

गाथार्थ—वे द्रव्य एक-दूसरे में प्रवेश करते हैं, अन्योन्य को अवकाश

1. 'अभव्यस्यापि तथा शून्यताप्रसंगः स्वरूपेणाप्यभवनात्।'

देते हैं, परस्पर मिल जाते हैं तथापि सदा अपने-अपने स्वभाव को नहीं छोड़ते।

विशेषार्थ—जीव और पुद्गल परस्पर एक-दूसरे में प्रवेश करते हैं तथा शेष धर्मादि चार द्रव्य क्रियावान् जीव और पुद्गलों को अवकाश देते हैं तथा धर्मादि निष्क्रिय चार द्रव्य एक क्षेत्र में परस्पर मिलकर रहते हैं तथापि कोई भी द्रव्य अपने स्वभाव को नहीं छोड़ता।[1]

पारिणामिकभावप्रधानत्वेन परमस्वभावः ॥११६॥

सूत्रार्थ—पारिणामिक भाव की प्रधानता से परमस्वभाव है।

विशेषार्थ—अपने स्वभाव से रहना या होना पारिणामिक भाव है। उस पारिणामिक भाव की मुख्यता से परमस्वभाव है।

॥ इस प्रकार से सामान्य स्वभावों का निरूपण हुआ ॥

प्रदेशादिगुणानां व्युत्पत्तिश्चेतनादि विशेषस्वभावानां च व्युत्पत्तिर्निगदिता ॥११७॥

सूत्रार्थ—प्रदेश आदि गुणों की व्युत्पत्ति तथा चेतनादि विशेष स्वभावों की व्युत्पत्ति कही गई।

विशेषार्थ—सूत्र ९४ से यहां तक ११ सामान्यस्वभावों की; चेतन, अचेतन, मूर्त, अमूर्त व प्रदेश—विशेष स्वभावों की; तथा प्रदेशत्व आदि गुणों की व्युत्पत्ति कही गई।

धर्मापेक्षया स्वभावा गुणा न भवन्ति ॥११८॥

सूत्रार्थ—स्वभाव की अपेक्षा स्वभाव गुण नहीं होते।

विशेषार्थ—ऐसे भी स्वभाव हैं जो गुण नहीं हैं। जैसे—'नास्तित्व' स्वभाव तो है परन्तु गुण नहीं है। इसी प्रकार एकस्वभाव, अनेकस्वभाव, भेदस्वभाव, अभेदस्वभाव आदि के विषय में भी जानना चाहिये। गुण और स्वभाव में क्या अन्तर है, इस सम्बन्ध में सूत्र २८ के विशेषार्थ में सविस्तार कथन हो चुका है।

---

१. पचास्तिकाय गाथा ७ श्री जयसेन आचार्य की टीका।

स्वद्रव्यचतुष्टयापेक्षया परस्परं गुणाः स्वभावा भवन्ति ॥११९॥

सूत्रार्थ—स्वद्रव्य चतुष्टय अर्थात् स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव की अपेक्षा परस्पर में गुण स्वभाव हो जाते हैं।

विशेषार्थ—अस्तित्व द्रव्य का गुण है। इस गुण का चतुष्टय और द्रव्य का चतुष्टय एक है। इस अस्तित्व गुण के कारण ही द्रव्य व अन्य गुणों का अस्तित्व है। अतः यह अस्तित्व गुण स्वभाव भी हो जाता है। इसी प्रकार अन्य गुणों के विषय में भी यथायोग्य जान लेना चाहिये।

द्रव्याण्यपि भवन्ति ॥१२०॥

सूत्रार्थ—स्वद्रव्य चतुष्टय की अपेक्षा गुण द्रव्य भी हो जाते हैं।

विशेषार्थ—द्रव्य का चतुष्टय और गुण का चतुष्टय एक है। अतः गुण द्रव्य भी हो जाते हैं। जैसे—चेतनद्रव्य, अचेतनद्रव्य, मूर्तद्रव्य, अमूर्तद्रव्य इत्यादि।

अब क्रमप्राप्त विभाव-स्वभाव की व्युत्पत्ति—

स्वभावादन्यथाभवनं विभावः ॥१२१॥

सूत्रार्थ—स्वभाव से अन्यथा होने को, विपरीत होने को विभाव कहते हैं।

विशेषार्थ—जीव का स्वभाव क्षमा है। क्षमा से विपरीत क्रोध रूप होना विभाव है।

शुद्धस्वभाव और अशुद्धस्वभाव की व्युत्पत्ति—

शुद्धं केवलभावमशुद्धं तस्यापि विपरीतम् ॥१२२॥

सूत्रार्थ—केवलभाव (खालिस, अमिश्रित भाव) शुद्धस्वभाव है। इस शुद्ध के विपरीत भाव अर्थात् मिश्रित भाव अशुद्धस्वभाव है।

विशेषार्थ—जो द्रव्य अबंध है अर्थात् दूसरे द्रव्यों से बंधा हुआ नहीं है, वह द्रव्य शुद्ध है और उसके जो भाव हैं वे भी शुद्ध हैं। किन्तु जो द्रव्य अन्य द्रव्यों से बंधा हुआ है वह अशुद्ध है। उस अशुद्ध द्रव्य के जो भाव हैं वे भी अशुद्ध हैं। क्योंकि 'उपादानकारण सदृशं कार्यं भवतीति' अर्थात् उपादान कारण के सदृश ही कार्य होता है। इसी बात को श्री कुंदकुंद आचार्य दृष्टांत द्वारा

बतलाते हैं।

कणयमया भावादो जायंते कुण्डलादयो भावा।
अयमयया भावादो जह जायंते तु कडयादी॥
[समयसार गाथा १ ०]

अर्थ—सुवर्णमय द्रव्य से सुवर्णमय कुंडलादि भाव होते हैं और लोहमय द्रव्य से लोहमयी कड़े इत्यादिक भाव होते हैं।

उपचरित स्वभाव की व्युत्पत्ति—

स्वभावस्याप्यन्यत्रोपचारादुपचरितस्वभावः ॥१२३॥

सूत्रार्थ—स्वभाव का भी अन्यत्र उपचार करना उपचरितस्वभाव है।

विशेषार्थ—एकेन्द्रिय जीव, द्वीन्द्रिय जीव तथा पर्याप्त जीव, अपर्याप्त जीव इत्यादि कहना उपचरितस्वभाव हैं, क्योंकि ये भाव पुद्गलमयी नामकर्म की प्रकृतियों के हैं।

उपचरितस्वभाव के भेद—

स द्वेधा कर्मज-स्वाभाविक-भेदात्। यथा जीवस्य मूर्तत्वमचेतनत्वं। यथा सिद्धात्मनां परज्ञता परदर्शकत्वं च ॥१२४॥

सूत्रार्थ—वह उपचरितस्वभाव कर्मज और स्वाभाविक के भेद से दो प्रकार का है। जैसे—जीव के मूर्तत्व और अचेतनत्व कर्मज-उपचरितस्वभाव हैं। तथा जैसे—सिद्ध आत्माओं के पर का जाननपना तथा पर का दर्शकत्व स्वाभाविक-उपचरित-स्वभाव है।

विशेषार्थ—जीव का लक्षण यद्यपि अमूर्तत्व और चेतनत्व है तथापि कर्मबन्ध से एकत्व हो जाने के कारण जीव मूर्तभाव को प्राप्त हो जाता है। सूत्र १०३ के विशेषार्थ में तथा सूत्र २९ के विशेषार्थ में इसका विशद व्याख्यान है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण कर्मोदय से जीव में अज्ञान (अचेतन) औदयिक भाव है। अतः जीव में मूर्तत्व और अचेतनत्व कर्मज-औपचारिकभाव हैं। विशेष कथन सूत्र २९ के विशेषार्थ में है।

सिद्ध भगवान् नियम से आत्मज्ञ हैं उनमें सर्वज्ञता उपचार से है अर्थात् औपचारिक भाव है। श्री कुंदकुंद आचार्य ने कहा भी है—

जाणदि पस्सदि सव्वं ववहारणयेण केवली भगवं।
केवलणाणी जाणदि पस्सदि णियमेण अप्पाणं ॥१५९॥

[नियमसार]

अर्थ—केवली भगवान सर्व पदार्थों को जानते देखते हैं—यह कथन व्यवहारनय (उपचरितनय) से है परन्तु केवलज्ञानी नियम से अपनी आत्मा को ही जानते और देखते हैं।

एवमितरेषां द्रव्याणामुपचारो यथा संभवो ज्ञेयः ॥१२५॥

सूत्रार्थ—इसी प्रकार अन्य द्रव्यों में भी यथासम्भव उपचरितस्वभाव जानना चाहिये।

विशेपार्थ—धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य और कालद्रव्य इन चार में उपचरित स्वभाव नहीं है [सूत्र ३० व ३१]। मात्र जीव और पुद्गल इन दो द्रव्यों में उपचरित-स्वभाव होता है।

॥ इस प्रकार विशेष स्वभावों का निरूपण हुआ ॥

एकान्त पक्ष में दोष

दुर्नयैकान्तमारूढा भावानां स्वार्थिका हि ते।
स्वार्थिकाश्च विपर्यस्ताः सकलङ्का नया यतः ॥८॥

गाथार्थ—जो नय पदार्थों के दुर्नयरूप एकान्त पर आरूढ हैं, परस्पर विरुद्ध प्रतीत होने वाले नित्य, अनित्य आदि उभय धर्मों में से एक को मान कर दूसरे का सर्वथा निषेध करते है, वे स्वार्थिक हैं अर्थात् स्वेच्छा-प्रवृत्त हैं। स्वार्थिक होने से वे नय विपरीत हैं, क्योंकि वे दूषित नय अर्थात् नयाभास हैं।

विशेपार्थ—संस्कृत नयचक्र में इस गाथा का पाठ निम्न प्रकार है—

दुर्नयैकान्तमारूढा भावा न स्वार्थिकाहिता ।
स्वार्थिकास्तद्विपर्यस्ता निःकलंकास्तथा यतः ॥ [पृ० ६१]

अर्थ—दुर्नय एकान्त को लिये हुए भाव सम्यगर्थ वाले नहीं होते हैं। जो नय एकान्त से रहित भाव वाले हैं वे समीचीन अर्थ को बतलाने वाले हैं।

तत्कथं ? ॥१२६॥

सूत्रार्थ—वह किस प्रकार ?

तथाहि—सर्वथैकान्तेन सद्रूपस्य न नियतार्थव्यवस्था संकरादिदोषत्वात् ॥१२७॥

सूत्रार्थ—संकरादि दोषों से दूषित होने के कारण सर्वथा एकान्त के मानने पर सद्रूप पदार्थ की नियत अर्थव्यवस्था नहीं हो सकती है।

विशेषार्थ—१. संकर, २. व्यतिकर, ३. विरोध, ४. वैयाधिकरण, ५. अनवस्था, ६. संशय, ७. अप्रतिपत्ति, ८. अभाव, ये संकरादि आठ दोष हैं।

१. संकर—सर्व वस्तुओं का परस्पर मिलकर एक वस्तु हो जाना।

२. व्यतिकर—जिस वस्तु की किसी भी प्रकार से स्थिति न हो, वह व्यतिकर दोष है। जैसे—'चक्षु से सुना' यह व्यतिकर दोष है।

३. विरोध—जड़ का चेतन हो जाना और चेतन का जड़ होना। जड़ और चेतन में परस्पर विरोध है।

४. एक समय में अनेक वस्तुओं में विषम अर्थात् परस्पर विरुद्ध पर्यायें रह सकती हैं। जैसे—शीत व उष्ण पर्यायें भिन्न-भिन्न वस्तुओं में तो रह सकती हैं, यथा—जल में शीतलता और अग्नि में उष्णता। किन्तु इन दोनों परस्पर विरुद्ध अर्थात् विषम पर्यायों को एक ही समय में एक के आधार कहना वैयाधिकरण दोष है।

५. अनवस्था (ठहर व नहीं)—एक से दूसरे की, दूसरे से तीसरे की और तीसरे से चौथे की उत्पत्ति—इस प्रकार कहीं पर भी ठहराव नहीं होना। जैसे—ईश्वर-कर्तृत्व में अनवस्था दोष आता है, क्योंकि संसार का कर्ता

ईश्वर है, ईश्वर का कर्ता अन्य है और उस अन्य का कर्ता दूसरा है। इस प्रकार कल्पनाओं का कहीं विराम न होना अनवस्था दोष है।

६. संशय—वर्तमान में निश्चय न कर सकना संशय है। अथवा, विरुद्ध अनेक कोटि को स्पर्श करने वाले विकल्प को संशय कहते हैं। जैसे—यह सीप है या चांदी।

७. अप्रतिपत्ति—वस्तुस्वरूप की अज्ञानता अप्रतिपत्ति है।

८. अभाव—जिस वस्तु का सर्वथा अभाव हो उसको कहना अभाव दोष है। जैसे—गधे के सींग।

तथासद्रूपस्य सकलशून्यताप्रसंगात् ॥१२८॥

सूत्रार्थ—यदि सर्वथा एकान्त से असद्रूप माना जाय तो सकल-शून्यता का प्रसंग आ जायगा।

विशेषार्थ—सर्वथा असद्रूप मानने पर सम्पूर्ण पदार्थ असदात्मक हो जायेंगे, क्योंकि स्वरूप से भी अभाव मानना पड़ेगा। अतः कोई भी वस्तु सद्रूप न रहने से सकल-शून्यता हो जायगी।

नित्यस्यैकरूपत्वादेकरूपस्यार्थक्रियाकारित्वाभावः। अर्थक्रियाकारित्वाभावे द्रव्यस्याप्यभावः ॥१२९॥

सूत्रार्थ—सर्वथा नित्यरूप मानने पर पदार्थ एकरूप हो जायगा। एकरूप होने पर अर्थक्रियाकारित्व का अभाव हो जायेगा और अर्थक्रियाकारित्व के अभाव में पदार्थ का ही अभाव हो जायगा।

विशेषार्थ—जिस वस्तु से किसी भी कार्य की सिद्धि नहीं होती अर्थात् जिसमे अर्थक्रियाकारिपना नहीं है, वह वस्तु नहीं है। अर्थक्रियाकारिपना वस्तु का धर्म है, क्योंकि उससे उत्तर पर्याय की सिद्धि होती है।

अनित्यपक्षेपि निरन्वयत्वात् अर्थक्रियाकारित्वाभावः। अर्थक्रियाकारित्वाभावे द्रव्यस्याप्यभावः ॥१३०॥

सूत्रार्थ—सर्वथा अनित्य पक्ष में भी निरन्वय अर्थात् निर्द्रव्यत्व होने से अर्थक्रियाकारित्व का अभाव हो जायगा और अर्थक्रियाकारित्व का अभाव होने से द्रव्य का भी अभाव हो जायगा।

विशेषार्थ—पर्याय अनित्य है और द्रव्य नित्य है। सर्वथा अनित्य मानने पर नित्यता के अभाव का प्रसंग आ जायगा अर्थात् पर्यायों में अन्वयरूप से रहने वाले द्रव्य का अभाव हो जायगा। और अन्वयरूप द्रव्य के अभाव में पर्यायों का भी अभाव हो जायगा।

एकस्वरूपस्यैकान्तेन विशेषाभावः सर्वथैकरूपत्वात्। विशेषाभावे सामान्यस्याप्यभावः ॥१३१॥

सूत्रार्थ—एकान्त से एकरूप मानने पर सर्वथा एकरूपता होने से विशेष का अभाव हो जायगा और विशेष का अभाव होने पर सामान्य का भी अभाव हो जायगा।

विशेषार्थ—सूत्र ९५ में सामान्य और विशेषात्मक वस्तु बतलाई है। विशेष का अर्थ पर्याय है। जैसे—शवक, छत्रक, स्थाश, कोश, कुशूल, घट आदि पर्यायें। इन पर्यायों में अन्वयरूप से रहने वाला द्रव्य 'सामान्य' है। जैसे—शवक आदि पर्यायों में रहने वाली मिट्टी। द्रव्य बिना पर्याय नहीं होती और पर्याय बिना द्रव्य नहीं होता। श्री कुंदकुंद आचार्य ने कहा भी है—

पज्जयविजुदं दव्वं दव्वविजुत्ता य पज्जया णत्थि।
दोण्हं अणण्णभूदं भावं समणा परूविंति ॥१२॥ [पंचास्तिकाय]

अर्थ—पर्याय (विशेष) से रहित द्रव्य (सामान्य) और द्रव्य (सामान्य) से रहित पर्यायें (विशेष) नहीं होतीं। दोनों का अनन्यपना है, ऐसा श्रमण प्ररूपित करते हैं।

अतः सर्वथा एकान्त से सामान्य मानने पर विशेष का अभाव हो जाने पर सामान्य का भी अभाव हो जायगा क्योंकि दोनों के अनन्यपना है।

निर्विशेषं हि सामान्यं भवेत् खरविषाणवत्।
सामान्यरहितत्वाच्च विशेषस्तद्वदेव हि ॥६॥ इति शेषः

गाथार्थ—विशेष रहित सामान्य निश्चय से गधे के सींग के समान है और सामान्य से रहित होने के कारण विशेष भी गधे के सींग के समान है अर्थात् अवस्तु है। ऐसा जानना चाहिये।

अनेकपक्षेऽपि तथा द्रव्याभावो निराधारत्वात् आधाराधेयाभावाच्च ॥१३२॥

सूत्रार्थ—सर्वथा अनेक पक्ष में भी पदार्थों (पर्यायों) का निराधार होने से तथा आधार-आधेय का अभाव होने से द्रव्य का अभाव हो जायगा।

विशेषार्थ—सामान्य आधार है और विशेष (पर्यायें) आधेय हैं। यदि केवल विशेषरूप अर्थात् अनेकरूप ही माना जाय तो विशेष (पर्यायों) का आधार जो सामान्य, उसका अभाव हो जाने से विशेष निराधार रह जायेंगे और आधार-आधेय सम्बन्ध का भी अभाव हो जायगा। सामान्य रूप आधार के अभाव में विशेषरूप आधेयों का भी अभाव हो जायगा। इस प्रकार द्रव्य का भी अभाव हो जायगा।

भेदपक्षेऽपि विशेषस्वभावानां निराधारत्वादर्थक्रियाकारित्वाभावः। अर्थक्रियाकारित्वाभावे द्रव्यस्याप्यभावः ॥१३३॥

सूत्रार्थ—गुण-गुणी और पर्याय-पर्यायी के सर्वथा भेद पक्ष में विशेष स्वभाव अर्थात् गुण और पर्यायों के निराधार हो जाने से अर्थक्रियाकारित्व का अभाव हो जायगा और अर्थक्रियाकारित्व के अभाव में द्रव्य का भी अभाव हो जायगा।

विशेषार्थ—गुण और गुणी का सर्वथा भेद मानने पर तथा पर्याय और पर्यायी का सर्वथा भेद मानने पर अर्थात् प्रदेश अपेक्षा भी भेद मानने पर गुण और गुणी दोनों की भिन्न-भिन्न सत्ता हो जायगी तथा पर्याय और पर्यायी की भी भिन्न-भिन्न सत्ता हो जायगी। भिन्न-भिन्न सत्ता हो जाने से गुण और पर्याय निराधार हो जायेंगे अर्थात् द्रव्य के आधार नहीं रहेंगे। गुण और पर्यायरूप विशेष स्वभावों के निराधार हो जाने से अर्थक्रियाकारित्व का

अभाव हो जायगा। अर्थक्रियाकारित्व का अभाव हो जाने से द्रव्य का भी अभाव हो जायगा। श्री अमृतचन्द्राचार्य ने प्रवचनसार गाथा ११० की टीका में कहा भी है—

'न खलु द्रव्यात्पृथग्भूतो गुण इति वा पर्याय इति वा कश्चिदपि स्यात्। यथा सुवर्णात्पृथग्भूतं तत्पीतत्वादिकमिति वा तत्कुण्डलादिकत्वमिति वा।'

अर्थ—निश्चय नय से द्रव्य से पृथग्भूत कोई भी गुण या पर्याय नहीं होती। जैसे—सुवर्ण का पीलापन गुण तथा कुण्डलादि पर्यायें सुवर्ण से पृथग्भूत नहीं होतीं।

अभेदपक्षेऽपि सर्वेषामेकत्वम्, सर्वेषामेकत्वेऽर्थक्रियाकारित्वाभावः, अर्थक्रियाकारित्वाभावे द्रव्यस्याप्यभावः ॥१३४॥

सूत्रार्थ—सर्वथा अभेद पक्ष में गुण-गुणी, पर्याय-पर्यायी सम्पूर्ण पदार्थ एकरूप हो जायेंगे। सम्पूर्ण पदार्थों के एकरूप हो जाने पर अर्थक्रियाकारित्व का अभाव हो जायगा और अर्थक्रियाकारित्व के अभाव में द्रव्य का भी अभाव हो जायगा।

विशेषार्थ—प्रवचनसार गाथा २७ की टीका में श्री जयसेन आचार्य ने कहा है—

'यदि पुनरेकान्तेन ज्ञानमात्मेति भण्यते तदा ज्ञानगुणमात्र एवात्मा प्राप्तः सुखादिधर्माणामवकाशो नास्ति। तथा सुखवीर्यादिधर्मसमूहाभावादात्माऽभावः, आत्मन आधारभूतस्याभावादाधेयभूतस्य ज्ञानगुणस्याप्यभावः, इत्येकान्ते सति द्वयोरप्यभावः।'

अर्थ - यदि एकान्त से ज्ञान ही आत्मा है, ऐसा कहा जाय तब ज्ञानगुण मात्र ही आत्मा प्राप्त होगा, फिर सुख आदि स्वभावों का अवकाश नहीं रहेगा तथा सुख, वीर्य आदि स्वभावों के समुदाय का अभाव होने से आत्मा का अभाव हो जायगा। जब आधारभूत आत्मा का अभाव हो गया, तब

उसका आधेयभूत ज्ञानगुण का भी अभाव हो गया। इस तरह अभेद एकान्त मत में ज्ञानगुण और आत्मद्रव्य दोनों का ही अभाव हो जायगा।

भव्यस्यैकान्तेन पारिणामिकत्वात् द्रव्यस्य द्रव्यान्तरत्व प्रसङ्गात्, सङ्करादिदोषसम्भवात् ॥१३५॥

सूत्रार्थ—एकान्त से सर्वथा भव्य स्वभाव के मानने पर द्रव्य के द्रव्यान्तर का प्रसंग आ जायगा, क्योंकि द्रव्य परिणामी होने के कारण पर-द्रव्यरूप भी परिणम जायगा। इस प्रकार संकर आदि दोप सम्भव हैं।

विशेषार्थ—द्रव्य परिणामी है, यदि उसमें एकान्त से भव्य स्वभाव ही माना जाय, अभव्य स्वभाव स्वीकार न किया जाय तो द्रव्य द्रव्यांतररूप भी परिणमन कर जायगा, जिससे संकरादि आठ दोष आ जायेंगे। संकर आदि आठ दोपों का कथन सूत्र १२७ के विशेषार्थ में किया जा चुका है।

सर्वथाऽभव्यस्यैकान्तेऽपि तथा शून्यताप्रसङ्गात् स्वरूपेणाप्यभवनात् ॥१३६॥

सूत्रार्थ—एकान्त से सर्वथा अभव्य स्वभाव के मानने पर शून्यता का प्रसङ्ग आ जायगा, क्योंकि स्वस्वरूप से भी वह नहीं हो सकेगा।

विशेपार्थ—यदि सर्वथा अभव्यस्वभाव माना जाय तो द्रव्य स्वस्वरूप से भी अर्थात् अपनी भाविपर्यायरूप भी नहीं हो सकेगा जिससे द्रव्य का ही अभाव हो जायगा। तथा द्रव्य के अभाव में सर्व शून्य हो जायगा।

स्वभावस्वरूपस्यैकान्तेन संसाराभावः ॥१३७॥

सूत्रार्थ—एकान्त से सर्वथा-स्वभावस्वरूप माना जाय तो संसार का ही अभाव हो जायगा।

विशेपार्थ संसार विभावस्वरूप है। स्वभाव के एकान्तपक्ष में विभाव को अवकाश नहीं। अतः विभावनिरपेक्ष सर्वथा स्वभाव के मानने पर संसार का अभाव हो जायगा।

विभावपक्षेऽपि मोक्षस्याप्यभावः ।।१३८।।

सूत्रार्थ—स्वभाव निरपेक्ष विभाव के मानने पर मोक्ष का भी अभाव हो जायगा।

विशेषार्थ—स्वभावरूप परिणमन मोक्ष है। एकान्त से सर्वथा विभाव स्वरूप मानने पर स्वभाव का अभाव हो जायगा। स्वभाव के अभाव में मोक्ष का भी अभाव हो जायगा।

सर्वथा चैतन्यमेवेत्युक्ते सर्वेषां शुद्धज्ञानचैतन्यावाप्तिः स्यात्, तथा सति ध्यानं ध्येयं ज्ञानं ज्ञेयं गुरुःशिष्याद्याभावः ।।१३९।।

सूत्रार्थ—सर्वथा चैतन्य पक्ष के मानने से सब जीवों के शुद्ध-ज्ञानरूप चैतन्य की प्राप्ति हो जायगी। शुद्धज्ञानरूप चैतन्य की प्राप्ति हो जाने पर ध्यान, ध्येय, ज्ञान, ज्ञेय, गुरु, शिष्य आदि का अभाव हो जायगा।

विशेषार्थ—यदि सर्वथा चैतन्यपक्ष माना जाय तो ज्ञानावरणकर्मोदय जनित अज्ञान का अभाव होने से सम्पूर्ण जीवों के शुद्धज्ञानरूप चैतन्य होने का प्रसंग आ जायगा। शुद्धज्ञानरूप चैतन्य की प्राप्ति का प्रसंग आ जाने से ध्यान, ध्येय आदि का अभाव हो जायगा, क्योंकि शुद्धज्ञानरूप चैतन्य के अभाव में उसकी प्राप्ति के लिये ही ध्यान की आवश्यकता होती है।

सर्वथाशब्दः सर्वप्रकारवाची, अथवा सर्वकालवाची, अथवा नियमवाची वा, अनेकान्तसापेक्षी वा ? यदि सर्वप्रकार-वाची सर्वकालवाची अनेकान्तवाची वा, सर्वादिगणे पठनात् सर्वशब्द, एवं विधश्चेत्तर्हि सिद्धं नः समीहितम्। अथवा नियमवाची चेत्तर्हि सकलार्थानां तव प्रतीतिः कथं स्यात् ? नित्यः अनित्यः एकः अनेकः भेदः अभेदः कथं प्रतीतिः स्यात् नियमितपक्षत्वात् ? ।।१४०।।

अर्थ—सर्वथा शब्द सर्वप्रकारवाची है, अथवा सर्वकालवाची है, अथवा नियमवाची है, अथवा अनेकान्तवाची है ? यदि सर्व-आदि गण में पाठ होने से सर्वथा शब्द सर्वप्रकार, सर्वकालवाची अथवा अनेकान्तवाची है तो हमारा समीहित अर्थात् इष्टसिद्धान्त सिद्ध हो गया। यदि सर्वथा शब्द नियमवाची है तो फिर नियमित पक्ष होने के कारण सम्पूर्ण अर्थों की अर्थात् नित्य-अनित्य, एक-अनेक, भेद-अभेद आदि रूप सम्पूर्ण पदार्थों की प्रतीति कैसे होगी ? अर्थात् नहीं हो सकेगी।

विशेषार्थ—अन्य मत वाले सर्वथा शब्द का अर्थ 'नियम' करते हैं। अतः 'सर्वथा' शब्द के प्रयोग को मिथ्या कहा है—

परसमयाणं वयणं मिच्छं खलु होदि सव्वहा वयणा।
जइणाणं पुण वयणं सम्मं खु कहंचि वयणादो॥
गो. क. गा. ८९५]

अर्थ—मिथ्यामतियों का वचन सर्वथा कहने से नियम से मिथ्या अर्थात् असत्य होते हैं और जैनमत के वचन 'कथंचित्' का प्रयोग होने से सम्यक् हैं अर्थात् सत्य हैं।

तथाऽचैतन्यपक्षेऽपि सकलचैतन्योच्छेदः स्यात् ॥१४१॥

सूत्रार्थ—वैसे ही सर्वथा अचेतन पक्ष के मानने पर सम्पूर्ण चेतन का उच्छेद हो जायगा, क्योंकि केवल अचेतन ही माना गया है।

मूर्तस्यैकान्तेनात्मनो न मोक्षस्यावाप्तिः स्यात् ॥१४२।

सूत्रार्थ—सर्वथा एकान्त से आत्मा को मूर्त स्वभाव के मानने पर आत्मा को कभी भी मोक्ष की प्राप्ति नहीं होगी, क्योंकि अष्ट कर्मों के बन्धन से मुक्त हो जाने पर सिद्धात्मा अमूर्तिक है। सूत्र १०३ व २९ के विशेषार्थ में मूर्त अमूर्त का विशेष कथन है।

सर्वथाऽमूर्तस्यापि तथात्मनः संसारविलोपः स्यात् ॥१४३॥

सूत्रार्थ—आत्मा को सर्वथा अमूर्तिक मानने पर संसार का लोप हो जायगा।

विशेषार्थ—सूत्र १०३ व २९ के विशेषार्थ में यह कहा जा चुका है कि अनादि कर्मबंध के कारण आत्मा मूर्तिक हो रही है और कर्मों से मुक्त होने पर अमूर्तिक हो जाती है। यदि आत्मा को सर्वथा अमूर्तिक माना जायगा तो संसार के अभाव का प्रसंग आयेगा, क्योंकि संसारी आत्मा कर्मबंध के कारण मूर्तिक है।

एकप्रदेशस्यैकान्तेनाखण्डपरिपूर्णस्यात्मनोऽनेककार्यकारित्व एव हानिः स्यात् ॥१४४॥

सूत्रार्थ—सर्वथा एकप्रदेशस्वभाव के मानने पर अखण्डता से परिपूर्ण आत्मा के अनेक कार्यकारित्व का अभाव हो जायगा।

विशेषार्थ—अनेक प्रदेश का फल अनेककार्यकारित्व है। सर्वथा एकान्त से एकप्रदेशस्वभाव मानने से अनेकप्रदेशस्वभाव का अभाव हो जायगा जिससे अनेककार्यकारित्व की हानि हो जायगी।

सर्वथाऽनेकप्रदेशत्वेऽपि तथा तस्यानर्थकार्यकारित्वं स्वस्वभाव शून्यताप्रसङ्गात् ॥१४५॥

सूत्रार्थ—आत्मा के अनेक प्रदेशत्व मानने पर भी अखण्ड एकप्रदेशस्वरूप आत्म-स्वभाव के अभाव हो जाने से अर्थक्रियाकारित्व का अभाव हो जायगा।

विशेषार्थ—यद्यपि आत्मा बहुप्रदेशी है तथापि अखण्ड, एक द्रव्य है। यदि अखण्डता की अपेक्षा आत्मा को एकप्रदेश न माना जाय तो सर्व-प्रदेश बिखर जायेंगे, परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं रहेगा। अतः अर्थक्रिया-कारित्व का अभाव हो जायगा। 'अर्थक्रियाकारित्व' का अर्थ सूत्र १२९ के विशेषार्थ में देखना चाहिये।

शुद्धस्यैकान्तेनात्मनो न कर्ममलकलङ्कावलेपः सर्वथा-निरञ्जनत्वात् ॥१४६॥

सूत्रार्थ—सर्वथा एकान्त से शुद्धस्वभाव के मानने पर आत्मा सर्वथा निरंजन हो जायगी। निरंजन हो जाने से कर्ममलरूपी कलङ्क का अवलेप अर्थात् कर्मबंध सम्भव नहीं होगा।

विशेपार्थ—यदि आत्मा को सर्वथा शुद्ध माना जाय तो कर्मों से रहित होने के कारण आत्मा के कर्मबंध नहीं होगा।

सर्वथाऽशुद्धैकान्तेऽपि तथाऽत्मनो न कदापि शुद्धस्वभाव-प्रसङ्गः स्यात् तन्मयत्वात् ॥१४७॥

सूत्रार्थ—एकान्त से सर्वथा अशुद्ध स्वभाव के मानने पर अशुद्धमयी हो जाने से आत्मा को कभी भी शुद्धस्वभाव की प्राप्ति नहीं होगी अर्थात् मोक्ष नहीं होगा।

उपचरितैकान्तपक्षेऽपि नात्मज्ञता सम्भवति नियमित-पक्षत्वात् ॥१४८॥

सूत्रार्थ—उपचरित-स्वभाव के एकान्त पक्ष में भी आत्मज्ञता सम्भव नहीं है, क्योंकि नियत पक्ष है।

विशेपार्थ—सूत्र १२४ में बतलाया गया कि उपचरित-स्वभाव से परज्ञता है। यदि सर्वथा उपचरित-स्वभाव माना जाय और अनुपचरित-स्वभाव न माना जाय तो आत्मा में परज्ञता ही रहेगी और आत्मज्ञता अनुपचरित-स्वभाव होने से उसके अभाव का प्रसंग आ जायगा।

तथात्मनोऽनुपचरितपक्षेऽपि परज्ञतादीनां विरोधः स्यात् ॥१४९॥

सूत्रार्थ—उसी प्रकार अनुपचरित एकान्त पक्ष में भी आत्मा के परज्ञता आदि का विरोध आ जायगा।

विशेपार्थ—आदि शब्द से परदर्शकत्व का भी ग्रहण हो जाता है। परज्ञता और परदर्शकत्व, ये उपचरित-स्वभाव हैं [सूत्र १२४]। एकान्त अनुपचरित

पक्ष में उपचरित-पक्ष का निषेध होने से आत्मा का परज्ञता और परदर्शकत्व से विरोध आ जायगा जिससे सर्वज्ञता के अभाव का प्रसंग आ जायगा।

॥ इस प्रकार एकान्त पक्ष में दोषों का निरूपण हुआ ॥

नय योजनिका

नानास्वभावसंयुक्तं द्रव्यं ज्ञात्वा प्रमाणतः।
तच्च सापेक्षसिद्ध्यर्थं स्यान्नयमिश्रितं कुरु ॥१०॥[1]

गाथार्थ—प्रमाण से नाना स्वभाव वाले द्रव्य को जान करके, सापेक्षसिद्धि के लिये उसको कथंचित् नयों से मिश्रित अर्थात् युक्त करना चाहिये।

विशेषार्थ—सूत्र ३३ में बतलाया गया है कि द्रव्य आदि का ज्ञान प्रमाण और नय से होता है। सूत्र ३४ में प्रमाण का लक्षण और सूत्र ३९ में नय का लक्षण बतलाया जा चुका है। आगे भी सूत्र १७७ में प्रमाण का स्वरूप और सूत्र १८१ में नय का स्वरूप कहा जायगा। स्यात् (कथञ्चित्) सापेक्ष नय सम्यग्नय हैं। द्रव्य में सापेक्ष स्वभावों की सिद्धि के लिये स्यात् सापेक्ष नयों का प्रयोग करना चाहिये। गाथा ८ में कहा गया है कि जो नय एकान्त पक्ष को ग्रहण करने वाली हैं अर्थात् 'स्यात्' निरपेक्ष हैं, वे दुर्नय हैं।

अब आगे किस-किस द्रव्य में किस-किस नय की अपेक्षा कौन-कौन स्वभाव पाया जाता है इसका कथन किया जाता है—

स्वद्रव्यादिग्राहकेणास्तिस्वभावः ॥१५०॥

सूत्रार्थ—स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल, स्वभाव अर्थात् स्वचतुष्टय को ग्रहण करने वाले द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से अस्तिस्वभाव है। क्योंकि स्वचतुष्टय की अपेक्षा अस्तिस्वभाव है।

विशेषार्थ—स्वद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिक नय का कथन सूत्र ५४ व १८८ में है।

---

१. यह श्लोक संस्कृत नयचक्र पृ० ६४ पर भी है।

परद्रव्यादिग्राहकेण नास्तिस्वभावः ॥१५१॥

सूत्रार्थ—परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल, परभाव अर्थात् परचतुष्टय को ग्रहण करने वाले द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा नास्तिस्वभाव है, क्योंकि परचतुष्टय की अपेक्षा नास्तिस्वभाव है।

विशेषार्थ—परद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिक नय का कथन सूत्र ५५ व १८९ में है।

उत्पादव्ययगौणत्वेन सत्ताग्राहकेण नित्यस्वभावः ।१५२।

सूत्रार्थ—उत्पाद, व्यय को गौण करके ध्रौव्य को ग्रहण करने वाले शुद्ध-द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा नित्यस्वभाव है।

विशेषार्थ—उत्पादव्ययगौणत्वेन सत्ताग्राहक शुद्धद्रव्यार्थिक नय का कथन सूत्र ४८ में हो चुका है।

केनचित्पर्यायार्थिकेनानित्यस्वभावः ॥१५३॥

सूत्रार्थ—किसी पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा अनित्यस्वभाव है।

विशेषार्थ—सत्तागौणत्वेनोत्पादव्ययग्राहकस्वभावोऽनित्यशुद्धपर्यायार्थिक नय का कथन सूत्र ६० में है। इस नय की अपेक्षा अनित्यस्वभाव है।

भेदकल्पनानिरपेक्षेणैक स्वभावः ॥१५४॥

सूत्रार्थ—भेदकल्पनानिरपेक्ष शुद्धद्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा एकस्वभाव है।

विशेषार्थ—भेदकल्पनानिरपेक्ष शुद्धद्रव्यार्थिक नय का स्वरूप सूत्र ४९ में कहा गया है। यह नय गुण गुणी को अभेदरूप से ग्रहण करता है अर्थात् द्रव्य में भेदरूप से गुणों को ग्रहण नहीं करता। जैसा कि समयसार गाथा ७ में कहा है—

'णवि णाणं ण चरित्तं ण दंसणं जाणगो सुद्धो।'

अर्थात् जीव के न ज्ञान है, न चारित्र है, न दर्शन है, वह तो एक ज्ञायक, शुद्ध है।

यह कथन भेदकल्पनानिरपेक्ष शुद्धद्रव्यार्थिक नय की दृष्टि से है।

अन्वयद्रव्यार्थिकेनैकस्याप्यनेकद्रव्यस्वभावत्वम् ॥१५५॥

सूत्रार्थ—अन्वयद्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से एक द्रव्य के भी अनेक स्वभाव पाये जाते हैं।

विशेषार्थ—सूत्र ५३ व १८७ में अन्वयसापेक्ष द्रव्यार्थिक नय का कथन है। वहां पर दृष्टान्त दिया है—'यथा गुणपर्यायस्वभावं द्रव्यम्'। अर्थात् द्रव्य गुण-पर्याय स्वभाव वाला है। द्रव्य एक है किन्तु गुण और पर्याय अनेक हैं। अतः इस नय की दृष्टि में एक द्रव्य के अनेक स्वभाव होते हैं। जैसे—एक ही देवदत्त पुरुष की बाल-वृद्ध अवस्था होती है। अथवा उन अवस्थाओं में एक ही देवदत्त रहता है।

सद्भूतव्यवहारेण गुणगुण्यादिभिर्भेदस्वभावः ॥१५६॥

सूत्रार्थ—सद्भूतव्यवहार उपनय की अपेक्षा गुण-गुणी आदि में भेद-स्वभाव है।

विशेषार्थ—सद्भूतव्यवहार उपनय का कथन सूत्र २०६ में किया गया है। इस नय का विषय गुण और गुणी में तथा पर्याय-पर्यायी में भेद ग्रहण करना है। अतः इस नय की अपेक्षा गुण और गुणी में तथा पर्याय-पर्यायी में संज्ञा आदि की अपेक्षा भेद है।

भेदकल्पनानिरपेक्षेण गुणगुण्यादिभिरभेद स्वभावः ।१५७।

सूत्रार्थ—भेदकल्पनानिरपेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा गुण, गुणी आदि में अभेदस्वभाव है।

विशेषार्थ—भेदकल्पनानिरपेक्ष शुद्धद्रव्यार्थिक नय का कथन सूत्र ४९ में है। उस सूत्र में कहा है—'निजगुणपर्यायस्वभावाद् द्रव्यमभिन्नम्।' अर्थात् निज गुण, पर्याय और स्वभाव से द्रव्य अभिन्न है। अतः इस नय की दृष्टि से गुण, गुणी में, पर्याय-पर्यायी में तथा स्वभाव-स्वभावी में अभेद है। अर्थात् प्रदेशभेद नहीं है।

परमभावग्राहकेण भव्याभव्यपारिणामिकस्वभावः ॥१५८॥

सूत्रार्थ—परमभावग्राहक द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा भव्य और अभव्य पारिणामिक स्वभाव है।

विशेषार्थ—सूत्र ११६ में कहा है 'पारिणामिक भाव की मुख्यता से परमस्वभाव है।' अतः यहां पर परमभावग्राहक द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा भव्यभाव और अभव्यभाव को पारिणामिक भाव कहा गया है।

सूत्र ५६ के विशेषार्थ में बतलाया गया है कि शुद्ध और अशुद्ध के उपचार से रहित जो नय द्रव्य के स्वभाव को ग्रहण करता है, वह परमभावग्राहक द्रव्यार्थिक नय है। 'ज्ञानस्वरूप आत्मा' यह परमभावग्राहक द्रव्यार्थिक नय का विषय है। स्वरूप से परिणमन करना भव्यस्वभाव और पररूप से परिणमन नहीं करना अभव्यस्वभाव, ये दोनों स्वभाव शुद्ध और अशुद्ध के उपचार से रहित हैं। अतः भव्य, अभव्य स्वभाव परमभावग्राहक द्रव्यार्थिक नय का विषय है। परमभावग्राहक नय का कथन सूत्र १९० में भी है।

शुद्धाशुद्धपरमभावग्राहकेण चेतनस्वभावो जीवस्य ॥१५९॥

सूत्रार्थ—शुद्धाशुद्ध-परमभावग्राहक द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से जीव के चेतन-स्वभाव है।

विशेषार्थ—चेतनस्वभाव जीव का लक्षण है, वह पारिणामिक भाव है। किन्तु छद्मस्थ अवस्था में वह चेतनस्वभाव अशुद्ध रहता है और परमात्म अवस्था में आवरक कर्म के क्षय हो जाने से शुद्ध हो जाता है। परमभावग्राहक नय की अपेक्षा जीव के चेतनस्वभाव है ऐसा सूत्र ५६ में कहा गया है। चेतनस्वभाव शुद्ध, अशुद्ध दो प्रकार का है अतः परमभावग्राहक द्रव्यार्थिक नय को भी शुद्धाशुद्ध-परमभावग्राहकद्रव्यार्थिक नय कहा है।

असद्भूतव्यवहारेण कर्मनोकर्मणोरपि चेतनस्वभावः ।१६०।

सूत्रार्थ—असद्भूतव्यवहार उपनय की अपेक्षा कर्म, नोकर्म के भी चेतन-स्वभाव है।

विशेषार्थ—असद्भूतव्यवहार नय का कथन सूत्र २०७ में है। असद्भूत-व्यवहार उपनय के तीन भेद हैं। उनमें जो दूसरा भेद 'विजात्यसद्भूतव्यवहार उपनय' है, उसकी अपेक्षा कर्म, नोकर्म के भी चेतनस्वभाव है। सूत्र ८६ के विशेषार्थ में संस्कृत नयचक्र के आधार पर यह कहा गया है कि शरीर (नोकर्म) को जीव कहना विजात्यसद्भूतव्यवहार उपनय का विषय है। श्री राजवार्तिक अ० ५ सूत्र १९ वार्तिक २४ में भी कहा है—

'पौरुषेयपरिणामानुरञ्जितत्वात् कर्मणः स्याच्चैतन्यम्।'

अर्थ—पौद्गलिक कर्म पुरुष (जीव) के परिणामों से अनुरंजित होने के कारण कथंचित् चेतन है।

मूलाराधना गाथा ६१९ की टीका में भी इसी प्रकार कहा गया है—

'सह चित्तेनात्मना वर्तते इति सचित्तं जीवशरीरत्वेनावस्थितं पुद्गलद्रव्यं।'

अर्थात्—इस आत्मा के साथ जो पुद्गलपदार्थ रहता है वह सचित्त है। जीव का शरीर बनकर जो पुद्गल रहता है वह सचित्त है।

प्राकृत नयचक्र पृ० ८२ पर कहा है—

एइंदियादिदेहा जीवा ववहारदो य जिणदिट्ठा।
हिंसादिसु जइ पापं सव्वत्थवि किं ण ववहारो ॥२३४॥

अर्थात्—एकेन्द्रिय आदि का शरीर है, ऐसा जिनेन्द्र ने व्यवहार से कहा है। यदि हिंसा आदि में पाप है तो सर्वत्र व्यवहार का प्रयोग क्यों न हो? अर्थात् व्यवहार सत्य है, उसका सर्वत्र प्रयोग होना चाहिए।

इस प्रकार कर्म, नोकर्म के भी चेतनस्वभाव है किन्तु वह निजस्वभाव नहीं है। जीव से बंध की अपेक्षा उनमें चेतनस्वभाव है जो विजात्यसद्भूत-व्यवहार उपनय का विषय है।

परमभावग्राहकेण कर्मनोकर्मणोरचेतनस्वभावः ॥१६१॥

सूत्रार्थ—परमभावग्राहक द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा कर्म, नोकर्म के अचेतन

स्वभाव है।

विशेषार्थ—परमभावग्राहक द्रव्यार्थिक नय का स्वरूप सूत्र ५६ व १६० में कहा गया है। अचेतनत्व पुद्गल द्रव्य का निजस्वभाव है अतः यह परमभावग्राहक द्रव्यार्थिक नय का विषय है।

जीवस्याप्यसद्भूतव्यवहारेणाचेतनस्वभावः ॥१६२॥

सूत्रार्थ - विजात्यसद्भूतव्यवहार उपनय की अपेक्षा जीव के भी अचेतनस्वभाव है।

विशेषार्थ—सूत्र २९ के विशेषार्थ में जीव के अचेतनभाव का विशेष कथन है। अचेतनभाव जीव का निजस्वभाव नहीं है। कर्मबंध के कारण जीव में अचेतनभाव है; अतः यह विजात्यसद्भूतव्यवहार उपनय का विषय है। सूत्र ८६ में विजात्यसद्भूतव्यवहार-उपनय का कथन है। असद्भूतव्यवहार-नय का कथन सूत्र २०७ में है।

परमभावग्राहकेण कर्मनोकर्मणोर्मूर्त्तस्वभावः ॥१६३॥

सूत्रार्थ—परमभावग्राहक द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा कर्म, नोकर्म के मूर्तस्वभाव है।

विशेषार्थ—परमभावग्राहक द्रव्यार्थिक नय का कथन सूत्र १९० व ५६ में है। कर्म, नोकर्म पौद्गलिक हैं। मूर्तस्वभाव पुद्गल का असाधारण गुण है। अतः कर्म, नोकर्म के मूर्तस्वभाव परमभावग्राहक द्रव्यार्थिक नय का विषय है।

जीवस्याप्यसद्भूतव्यवहारेण मूर्तस्वभावः ॥१६४॥

सूत्रार्थ—असद्भूतव्यवहार-उपनय की अपेक्षा जीव के भी मूर्तस्वभाव है।

विशेषार्थ—सूत्र २०७ में असद्भूतव्यवहारनय का कथन है। सूत्र १०३ व २९ के विशेषार्थ में जीव के मूर्तस्वभाव का विशेष कथन है और सूत्र ८६ में विजात्यसद्भूतव्यवहारउपनय का कथन है। कर्मबंध की अपेक्षा जीव में मूर्तस्वभाव है जो विजात्यसद्भूतव्यवहारनय का विषय है।

परमभावग्राहकेण पुद्गलं विहाय इतरेषाममूर्तस्वभावः ॥१६५॥

सूत्रार्थ—परमभावग्राहक द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा पुद्गल के अतिरिक्त जीवद्रव्य, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य और कालद्रव्य के अमूर्तस्वभाव है।

विशेषार्थ—परमभावग्राहक द्रव्यार्थिकनय का कथन सूत्र ५६ व १६० में है। जीवद्रव्य, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य और कालद्रव्य, इन पांच द्रव्यों में अमूर्तत्व निजस्वभाव है अतः यह परमभावग्राहक द्रव्यार्थिकनय का विषय है।

पुद्गलस्योपचारादेवास्त्यमूर्तत्वम् ॥१६६॥

सूत्रार्थ—पुद्गल के भी उपचार से अमूर्तस्वभाव है।

विशेषार्थ—विजात्यसद्भूतव्यवहार उपनय का कथन सूत्र ८६ में है। यद्यपि अमूर्तत्व पुद्गल का निजस्वभाव नहीं है तथापि जीव के साथ बंध की अपेक्षा कर्मरूप पुद्गल भी सूत्र १६० में कथित चेतनस्वभाव के समान अमूर्तस्वभाव को प्राप्त हो जाता है। अतः यह विजाति-असद्भूत-व्यवहार-उपनय का कथन है।

परमभावग्राहकेण कालपुद्गलाणूनामेकप्रदेश स्वभावत्वम् ॥१६७॥

सूत्रार्थ—परमभावग्राहक द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा कालाणुद्रव्य और पुद्गलपरमाणु के एकप्रदेश स्वभाव है।

विशेषार्थ—सूत्र १०० में बतलाया गया है कि पुद्गलपरमाणु के द्वारा व्याप्त क्षेत्र को प्रदेश कहते हैं। अतः पुद्गल परमाणु एकप्रदेश-स्वभावी है। आकाश के प्रत्येक प्रदेश पर एक-एककालाणु है। अतः कालाणु भी एकप्रदेशी है।

लोयायासपदेसे इक्किक्के जे ठिया हु इक्किक्का।
रयणाणं रासी इव ते कालाणू असंखदव्वाणि ॥२२॥
[बृहद्द्रव्यसंग्रह]

अर्थ—जो लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर रत्नों के ढेर के समान परस्पर भिन्न होकर एक-एक स्थित हैं वे कालाणु असंख्यात द्रव्य हैं।

लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश पर एक-एक कालाणु है अतः कालाणु भी एकप्रदेश-स्वभाव वाला है। अतः पुद्गलपरमाणु और कालाणु का एकप्रदेश-स्वभाव परमभावग्राहक द्रव्यार्थिकनय का विषय है। परमभावग्राहक द्रव्यार्थिक नय का कथन सूत्र ५६ व १९० में है।

भेदकल्पनानिरपेक्षेणेतरेषां चाखण्डत्वादेकप्रदेशत्वम् ॥१६८॥

सूत्रार्थ—भेदकल्पनानिरपेक्ष द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा धर्मद्रव्य, अधर्म-द्रव्य, आकाशद्रव्य और जीवद्रव्य के भी एकप्रदेश-स्वभाव है क्योंकि वे अखण्ड हैं।

विशेषार्थ—भेदकल्पनानिरपेक्ष द्रव्यार्थिकनय का कथन सूत्र ४९ में है। प्रदेश और प्रदेशवान् का भेद न करके धर्मादि द्रव्यों को अखण्डरूप से ग्रहण करने पर उनमें बहुप्रदेशत्व गौण हो जाता है और वे अखण्ड एकरूप से ग्रहण होने पर उनमें एकप्रदेश-स्वभाव सिद्ध हो जाता है जो भेदकल्पना-निरपेक्ष शुद्ध-द्रव्यार्थिकनय का विषय है।

भेदकल्पनासापेक्षेण चतुर्णामपि नानाप्रदेशस्वभावत्वम् ॥१६९॥

सूत्रार्थ—भेदकल्पनासापेक्ष-अशुद्ध-द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य और जीवद्रव्य के नानाप्रदेश-स्वभाव है।

विशेषार्थ—भेदकल्पनासापेक्ष-अशुद्ध-द्रव्यार्थिक नय का कथन सूत्र ५२ में है। द्रव्य में प्रदेश खण्ड का भेद किया जाता है तो धर्मादि चार द्रव्यों का बहुप्रदेश-स्वभाव है। तत्त्वार्थ सूत्र अध्याय पाँच में कहा भी है—

'असंख्येयाः प्रदेशा धर्माधर्मैकजीवानाम् ॥८॥

'आकाशस्यानन्ताः ॥९॥'

अर्थ—धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, एकजीवद्रव्य के असंख्यातप्रदेश हैं। आकाश के अनन्त प्रदेश हैं।

बहुप्रदेश के कारण धर्मादि द्रव्यों की अस्तिकाय संज्ञा है।

पुद्गलाणोरुपचारतो नानाप्रदेशत्वम्; न च कालाणोः स्निग्धरूक्षत्वाभावात् ऋजुत्वाच्च ॥१७०॥

सूत्रार्थ—उपचार से पुद्गलपरमाणु के नानाप्रदेश-स्वभाव है किन्तु कालाणु के, उपचार से भी नानाप्रदेशस्वभाव नहीं है क्योंकि कालाणु में स्निग्ध व रूक्ष गुण का अभाव है तथा वह स्थिर है।

विशेषार्थ—श्री नेमिचन्द्र आचार्य ने द्रव्यसंग्रह में कहा है—

एयपदेसो वि अणू णाणाखंधप्पदेसदो होदि।
बहुदेसो उवयारा तेण य काओ भणंति सव्वण्हु ॥२६॥

अर्थ—एक प्रदेशी भी पुद्गलपरमाणु स्निग्ध, रूक्ष गुण के कारण बंध होने पर अनेक स्कंधरूप बहुप्रदेशी हो सकता है। इस कारण सर्वज्ञदेव उपचार से पुद्गलपरमाणु को काय अर्थात् नानाप्रदेशस्वभाव युक्त कहते हैं।

सूत्र ८५ में बतलाया है कि परमाणु को बहुप्रदेशी कहना स्वजात्यसद्भूत-व्यवहार उपनय का विषय है।

बृहद्द्रव्यसंग्रह गाथा २६ की टीका में कालाणु के बहुप्रदेशी न होने के सम्बन्ध में निम्न कथन पाया जाता है—

'अथ मतं यथा पुद्गलपरमाणोर्द्रव्यरूपेणैकस्यापि द्व्यणुकादि-स्कन्धपर्यायरूपेण बहुप्रदेशरूपं कायत्वं जातं तथा कालाणोरपि द्रव्ये-णैकस्यापि पर्यायेण कायत्वं भवत्विति ? तत्र परिहारः स्निग्धरूक्षहेतु-कस्य बन्धस्याभावान्न भवति। तदपि कस्मात् ? स्निग्धरूक्षत्वं पुद्गल-स्यैव धर्मो यतः कारणादिति।'

अर्थ—यदि कोई ऐसी शंका करे कि जैसे द्रव्यरूप से एक भी पुद्गल-

परमाणु के द्वि-अणुक आदि स्कंध पर्याय द्वारा बहुप्रदेशरूप कायत्व सिद्ध हुआ है, ऐसे ही द्रव्यरूप से एक होने पर भी कालाणु के पर्याय द्वारा कायत्व सिद्ध होता है ? इसका परिहार करते है कि स्निग्ध-रूक्ष गुण के कारण होने वाले बन्ध का कालद्रव्य में अभाव है इसलिये वह काय नहीं हो सकता। ऐसा भी क्यों ? क्योंकि स्निग्ध तथा रूक्षपना पुद्‌गल का ही धर्म है। काल में स्निग्धता, रूक्षता नहीं होने से, बंध नहीं होना। अतः कालाणु के उपचार से भी बहुप्रदेशी-स्वभाव नहीं है।

अणोरमूर्तकालस्यैकविंशतितमो भावो न स्यात् ॥१७१॥

सूत्रार्थ—अमूर्तिक कालाणु के २१वाँ अर्थात् उपचरित-स्वभाव नहीं है।

विशेषार्थ—कालाणु में उपचरित-स्वभाव नहीं है ऐसा सूत्र ३०-३१ में कहा गया है। जब कालाणु में उपचरित-स्वभाव ही नहीं है तो कालाणु उपचार से बहुप्रदेशी कैसे हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता। पुद्‌गल में उपचरित स्वभाव है, अतः पुद्‌गल परमाणु में उपचार से नानाप्रदेश-स्वभाव भी सम्भव है।

परोक्षप्रमाणापेक्षयाऽसद्भूतव्यवहारेणाप्युपचारेणामूर्तत्वं पुद्‌गलस्य ॥१७२॥

सूत्रार्थ—परोक्षप्रमाण की अपेक्षा से और असद्भूतव्यवहार उपनय की दृष्टि से पुद्‌गल के उपचार से अमूर्त स्वभाव है।

विशेषार्थ—सूत्र १० के विशेषार्थ में बतलाया गया है कि स्पर्श, रस, गंध, वर्ण को मूर्त कहते हैं। सूत्र ११ के विशेषार्थ में कहते हैं कि जो स्पर्श किया जाय, चखा जाय, सूंघा जाय और देखा जाय, वह स्पर्श, रस, गंध, वर्ण है। किन्तु पुद्‌गल परमाणु स्पर्शनादि इन्द्रियों द्वारा स्पर्श नहीं होता, चखा नहीं जाता, सूंघा नहीं जाता, देखा नहीं जाता। परोक्षज्ञान अर्थात् मति-श्रुत ज्ञान इन्द्रिय निमित्तक है। अतः सूक्ष्म पुद्‌गल-परमाणु परोक्षज्ञान अर्थात् इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य न होने से अमूर्त है। विजात्यसद्भूतव्यवहार उपनय की अपेक्षा पुद्‌गल के उपचार से अमूर्त स्वभाव है जैसा सूत्र १६६ में कहा जा

पुरा है। सूत्र १६६ की दृष्टि से इस सूत्र की कोई विशेष आवश्यकता नहीं है, इसीलिए संस्कृत नयचक्र में यह सूत्र नहीं है।

शुद्धाशुद्धद्रव्यार्थिकेन स्वभावविभावत्वम् ।।१७३।।

सूत्रार्थ—शुद्ध-द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा द्रव्य में स्वभाव भाव है और अशुद्ध-द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा जीव, पुद्गल में विभाव-स्वभाव है।

विशेषार्थ—सूत्र १८५ में शुद्धद्रव्यार्थिक नय का कथन है और सूत्र १८६ में अशुद्धद्रव्यार्थिक नय का कथन है। स्वभाव भाव शुद्धद्रव्यार्थिक नय का विषय है। विभाव भाव अशुद्ध-द्रव्यार्थिक नय का विषय है। पर से बंध होने पर ही द्रव्य में अशुद्धता आती है। जीव और पुद्गल, ये दो द्रव्य बंध को प्राप्त होते हैं अतः जीव और पुद्गल में ही विभाव भाव है, धर्मादि शेष चार द्रव्यों में विभाव भाव नहीं होता।

शुद्धद्रव्यार्थिकेन शुद्धस्वभावः ।।१७४।।

सूत्रार्थ—शुद्धद्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा शुद्धस्वभाव है।

विशेषार्थ—शुद्धस्वभाव शुद्धद्रव्यार्थिक नय का विषय है। शुद्धद्रव्यार्थिक नय का कथन सूत्र १८५ में है।

अशुद्धद्रव्यार्थिकेनाशुद्धस्वभावः ।।१७५।।

सूत्रार्थ—अशुद्धद्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा अशुद्ध-स्वभाव है।

विशेषार्थ—अशुद्धस्वभाव अशुद्धद्रव्यार्थिक नय का विषय है। अशुद्ध-द्रव्यार्थिक नय का कथन सूत्र १८६ में है।

असद्भूतव्यवहारेण उपचरितस्वभावः ।।१७६।।

सूत्रार्थ—असद्भूतव्यवहार नय की अपेक्षा उपचरित-स्वभाव है।

विशेषार्थ—उपचरित-स्वभाव मात्र जीव और पुद्गल में है। शेष द्रव्यों में उपचरित-स्वभाव नहीं है। यह उपचरितभाव असद्भूतव्यवहार उपनय का विषय है।

द्रव्याणां तु यथारूपं तल्लोकेऽपि व्यवस्थितम् ।
तथा ज्ञानेन संज्ञातं नयोऽपि हि तथाविधः ॥११॥

गाथार्थ—द्रव्यों का जिस प्रकार का स्वरूप है, वह लोक में व्यवस्थित है । ज्ञान से उसी प्रकार जाना जाता है, नय भी उसी प्रकार जानता है ।

विशेषार्थ—'प्रमाणनयैरधिगमः ॥१/६॥' [त० सू०] के अनुसार जिस प्रकार ज्ञान से पदार्थ का बोध होता है उसी प्रकार नय से भी बोध होता है।

॥ इस प्रकार नययोजनिका का प्ररूपण हुआ ॥

प्रमाण का कथन

प्रमाण का लक्षण—

सकलवस्तुग्राहकं प्रमाण, प्रमीयते परिच्छिद्यते वस्तुतत्त्वं येन ज्ञानेन तत्प्रमाणम् ॥१७७॥

सूत्रार्थ—सकल वस्तु को ग्रहण करने वाला ज्ञान प्रमाण है । जिस ज्ञान के द्वारा वस्तुस्वरूप जाना जाता है, निश्चय किया जाता है, वह ज्ञान प्रमाण है ।

विशेषार्थ—सूत्र ३४ में 'सम्यग्ज्ञानं प्रमाणम्' कहा था किन्तु वहां पर सम्यग्ज्ञान का स्वरूप नहीं बतलाया गया था । यहां पर प्रमाण का विषय तथा कार्य बतलाया गया है । प्रमाण का विषय सकल वस्तु है अर्थात् वस्तु का पूर्ण अंश है और नय का विषय विकल वस्तु अथवा वस्तु का एकांश है । अर्थात् सकलादेश प्रमाण और विकलादेश नय है । वस्तुस्वरूप का यथार्थ निश्चय करना प्रमाण का कार्य है ।

प्रमाण के भेद—

तद्द्वेधा सविकल्पेतरभेदात् ॥१७८॥

सूत्रार्थ—सविकल्प और निर्विकल्प के भेद से प्रमाण दो प्रकार का है ।

विशेषार्थ—सूत्र ३५ में, प्रत्यक्ष और परोक्ष—प्रमाण के ऐसे दो भेद किये गये थे। यहां पर सविकल्प और निर्विकल्प की अपेक्षा प्रमाण के दो भेद किये गये हैं। जिस ज्ञान में प्रयत्नपूर्वक, विचारपूर्वक या इच्छापूर्वक पदार्थ को जानने के लिये उपयोग लगाना पड़े वह सविकल्प है। इससे विपरीत निर्विकल्प है।

सविकल्प ज्ञान का लक्षण तथा भेद—

सविकल्पं मानसं तच्चतुर्विधम् मतिश्रुतावधिमनःपर्यय-रूपम् ॥१७६॥

सूत्रार्थ—मानस अर्थात् विचार या इच्छा सहित ज्ञान सविकल्प ज्ञान है। वह चार प्रकार का है—१. मतिज्ञान, २. श्रुतज्ञान, ३. अवधिज्ञान, ४. मनःपर्ययज्ञान।

विशेषार्थ—मतिज्ञान और श्रुतज्ञान का कथन सूत्र ३८ में और अवधि, मनःपर्यय ज्ञान का कथन सूत्र ३६ में हो चुका है। ये चारों ज्ञान विचार-सहित या इच्छा सहित होते हैं इसलिये इनको सविकल्प कहा है। यहां पर मन का अर्थ इच्छा या विचार है।

निर्विकल्पं मनोरहितं केवलज्ञानम् ॥१८०॥

सूत्रार्थ—मन रहित अथवा विचार या इच्छा रहित ज्ञान निर्विकल्प ज्ञान है। केवलज्ञान निर्विकल्प है।

विशेषार्थ—सूत्र ३७ में केवलज्ञान का कथन है। सूत्र १७६ व १८० में विकल्प का अर्थ मन किया है। यहां मन से अभिप्राय इच्छा या विचार का है। केवलज्ञान इच्छा या विचार रहित होता है, अतः केवलज्ञान को मनोरहित अर्थात् निर्विकल्प कहा गया है।

॥ इस प्रकार प्रमाण व्युत्पत्ति का कथन हुआ ॥

नय का लक्षण व भेद

नय का लक्षण—

प्रमाणेन वस्तु संगृहीतार्थैकांशो नयः, श्रुतविकल्पो वा, ज्ञातुरभिप्रायो वा नयः, नानास्वभावेभ्यो व्यावृत्य एकस्मिन् स्वभावे वस्तु नयति प्राप्नोतीति वा नयः ॥१८१॥

सूत्रार्थ—प्रमाण के द्वारा सम्यक् प्रकार ग्रहण की गई वस्तु के एक धर्म अर्थात् अंश को ग्रहण करने वाले ज्ञान को नय कहते हैं। अथवा, श्रुतज्ञान के विकल्प को नय कहते हैं। ज्ञाता के अभिप्राय को नय कहते हैं। अथवा, जो नाना स्वभावों से हटाकर किसी एक स्वभाव में वस्तु को प्राप्त कराता है वह नय है।

विशेषार्थ—सूत्र ३९ में भी प्रमाण के अवयव को नय कहा है। यहां पर नय का लक्षण नाना प्रकार से कहा है। सर्वार्थसिद्धि में नय का लक्षण इस प्रकार कहा है—

'तावद्वस्तुन्यनेकान्तात्मन्यविरोधेन हेत्वर्पणात्साध्यविशेषस्य यथात्म्यप्रापण प्रवणः प्रयोगो नयः।'　　[सर्वार्थसिद्धि १/३३]

अर्थ—अनेकान्तात्मक वस्तु में विरोध के विना हेतु की मुख्यता से साध्य-विशेष की यथार्थता के प्राप्त कराने में समर्थ प्रयोग को नय कहते हैं।

स द्वेधा सविकल्पनिर्विकल्पभेदात् ॥१८२॥

सूत्रार्थ - सविकल्प और निर्विकल्प के भेद से नय भी दो प्रकार है।

विशेषार्थ—नय दो प्रकार का है दुर्नय और सुनय। सापेक्ष अर्थात् सविकल्प सुनय है और निरपेक्ष, निर्विकल्प दुर्नय है।

[स्वामिकार्तिकेय गाथा २६६ पृ० १९०]

॥ इस प्रकार नय की व्युत्पत्ति का कथन हुआ ॥



निक्षेप की व्युत्पत्ति

प्रमाणनययोर्निक्षेपणं आरोपणं निक्षेपः, स नामस्थापनादि-भेदेन चतुर्विधः ॥१८३॥

सूत्रार्थ –प्रमाण और नय के विषय में यथायोग्य नामादिरूप से पदार्थ निक्षेपण करना अर्थात् आरोपण करना निक्षेप है। वह निक्षेप नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव के भेद से चार प्रकार का है।

विशेषार्थ—नाम, स्थापना, द्रव्य और भावरूप से जीवादि द्रव्यों का न्यास अर्थात् निक्षेप होता है। (१) संज्ञा के अनुसार गुणरहित वस्तु में व्यवहार के लिये अपनी इच्छानुसार की गई संज्ञा को नाम निक्षेप कहते हैं। (२) काष्ठ-कर्म, पुस्तकर्म, चित्रकर्म और अक्षनिक्षेप आदि में 'यह वह है' इस प्रकार स्थापित करने को स्थापना निक्षेप कहते हैं। (३) जो गुणों के द्वारा प्राप्त हुआ था या गुणों को प्राप्त हुआ था अथवा जो गुणों के द्वारा प्राप्त किया जायगा या गुणों को प्राप्त होगा वह द्रव्यनिक्षेप है। (४) वर्तमान पर्याय से युक्त द्रव्य भाव निक्षेप है। खुलासा इस प्रकार है—नाम जीव, स्थापना जीव, द्रव्य जीव और भाव जीव—इस प्रकार जीव पदार्थ का न्यास चार प्रकार से किया जाता है।[1] कहा भी है—

णामजिणा जिणणाम, ठवणजिणा पुण जिणंदपडिमाओ।
दव्वजिणा जिणजीवा भावजिणा समवसरणत्था॥

अर्थ—जिन नाम जिन का नामनिक्षेप है। जिनेन्द्र भगवान् की प्रतिमा जिन की स्थापना निक्षेप है। जिनेन्द्र का जीव जिन का द्रव्यनिक्षेप है। समव-सरण में स्थित जिनेन्द्र जिन का भावनिक्षेप है।

धवल में श्री वीरसेन आचार्य ने इन निक्षेप का स्वरूप निम्न प्रकार कहा है—

नाम निक्षेप—अन्य निमित्तों की अपेक्षा रहित किसी की 'मंगल' ऐसी

---

१. सर्वार्थसिद्धि १/५।

संज्ञा करने को नाम मंगल कहते हैं। नाम निक्षेप में संज्ञा के चार निमित्त होते हैं—जाति, द्रव्य, गुण और क्रिया। उन चार निमित्तों में से तद्भव और सादृश्य लक्षण वाले सामान्य को जाति कहते हैं। द्रव्यनिमित्त के दो भेद हैं, संयोग द्रव्य और समवाय द्रव्य। उनमें अलग अलग सत्ता रखने वाले द्रव्यों के मेल से जो पैदा हो, उसे संयोग-द्रव्य कहते हैं। जो द्रव्य में समवेत हो उसे समवाय द्रव्य कहते हैं। जो पर्यायादिक से परस्पर विरुद्ध हो अथवा अविरुद्ध हो, उसे गुण कहते हैं। परिस्पन्द को क्रिया कहते हैं।

इन चार प्रकार के निमित्तों में से गौ, मनुष्य, घट, पट आदि जाति निमित्तक नाम हैं। दण्डी, छत्री इत्यादि संयोगद्रव्यनिमित्तक नाम है क्योंकि स्वतन्त्र सत्ता रखने वाले दण्ड आदि के संयोग से दण्डी आदि नाम व्यवहार में आते हैं। गलगण्ड, काना, कुवड़ा इत्यादि समवाय-द्रव्य-निमित्तक नाम हैं, क्योंकि जिसके लिये 'गलगण्ड' इस नाम का उपयोग किया गया है उससे, गले का गण्ड भिन्न सत्ता वाला द्रव्य नहीं है। कृष्ण, रुधिर इत्यादि गुण-निमित्तक नाम हैं, क्योंकि कृष्ण आदि गुणों के निमित्त से उन गुण वाले द्रव्यों में ये नाम व्यवहार में आते हैं। गायक, नर्तक इत्यादि क्रिया-निमित्तक नाम हैं, क्योंकि गाना, नाचना आदि क्रियाओं के निमित्त से गायक, नर्तक आदि नाम व्यवहार में आते है। इस तरह जाति आदि इन चार निमित्तों को छोड़कर संज्ञा की प्रवृत्ति में अन्य कोई निमित्त नहीं है।[1]

स्थापना निक्षेप—किसी नाम को धारण करने वाले दूसरे पदार्थ की 'वह यह है' इस प्रकार स्थापना करने को स्थापना निक्षेप कहते हैं। स्थापना निक्षेप दो प्रकार का है—सद्भाव स्थापना और असद्भाव स्थापना। जिस वस्तु की स्थापना की जाती है उसके आकार को धारण करने वाली वस्तु में सद्भावस्थापना समझना चाहिये तथा जिस वस्तु की स्थापना की जाती है उसके आकार से रहित वस्तु में असद्भाव स्थापना समझना चाहिये।[2]

द्रव्य निक्षेप—आगे होने वाली पर्याय को ग्रहण करने के सन्मुख हुए

---

१. धवल पु० १ पृ० १७-१८ २. धवल पु० १ पृ० १९

द्रव्य को (उस पर्याय की अपेक्षा) द्रव्यनिक्षेप कहते हैं अथवा वर्तमान पर्याय की विवक्षा से रहित द्रव्य को द्रव्यनिक्षेप कहते हैं।[1]

[नोट—इसके भेद प्रतिभेदों का विशद कथन धवल पु० १ में है]

भाव निक्षेप— वर्तमान पर्याय से युक्त द्रव्य को भाव कहते हैं।[2]

[नोट—इसके भेदों का विशेष कथन धवल पु० १ में है]

॥ इस प्रकार निक्षेप की व्युत्पत्ति का कथन हुआ ॥

नयों के भेदों की व्युत्पत्ति

द्रव्यमेवार्थः प्रयोजनमस्येति द्रव्यार्थिकः ॥१८४॥

सूत्रार्थ—द्रव्य जिसका प्रयोजन (विषय) है वह द्रव्यार्थिक नय है।

विशेषार्थ—सूत्र ४१ के विशेषार्थ में इसका विशेष कथन है।

शुद्धद्रव्यमेवार्थः प्रयोजनमस्येति शुद्धद्रव्यार्थिकः ॥१८५॥

सूत्रार्थ—शुद्धद्रव्य जिसका प्रयोजन है वह शुद्धद्रव्यार्थिक नय है।

विशेषार्थ—सूत्र ४७, ४८, ४९ में शुद्धद्रव्यार्थिक नय के भेदों का कथन है। धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य, कालद्रव्य ये चारों द्रव्य तो नित्यशुद्ध हैं। कर्मबंध के कारण संसारीजीव अशुद्ध हैं, और कर्मबंध से मुक्त हो जाने पर सिद्ध जीव शुद्ध हैं। इसी प्रकार बंध के कारण द्वि-अणुक आदि स्कंध-पुद्गलद्रव्य अशुद्ध हैं और बंध रहित पुद्गल परमाणु शुद्ध पुद्गल द्रव्य है। कहा भी है—

'सिद्धरूपः स्वभावपर्यायः, नरनारकादिरूपा विभावपर्यायाः।··· शुद्धपरमाणुरूपेणावस्थानं स्वभावद्रव्यपर्यायः ···द्व्यणुकादिस्कंधरूपेण परिणमनं विभावद्रव्यपर्यायाः।' [पंचास्तिकाय गाथा ५ टीका]

1. धवल पु० १ पृ० २० 2. धवल पु० १ पृ० २९

अतः शुद्धद्रव्यार्थिक नय के विषय धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य, कालद्रव्य, सिद्धजीवद्रव्य और पुद्गलपरमाणु हैं।

अशुद्धद्रव्यमेवार्थः प्रयोजनमस्येति अशुद्धद्रव्यार्थिकः ॥१८६॥

सूत्रार्थ—अशुद्धद्रव्य जिसका प्रयोजन है वह अशुद्धद्रव्यार्थिक नय है।

विशेषार्थ—द्व्यणुक आदि स्कंध रूप अशुद्ध पुद्गलद्रव्य और नर, नारक आदि संसारी जीवरूप अशुद्ध जीवद्रव्य इस अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय के विषय हैं। सूत्र ५०-५१-५२ में अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय के भेदों का कथन है।

सामान्यगुणादयोऽन्वयरूपेण द्रव्यं द्रव्यमिति व्यवस्थापयतीति अन्वयद्रव्यार्थिकः ॥१८७॥

सूत्रार्थ—जो नय सामान्य गुण, पर्याय, स्वभाव को—यह द्रव्य है, यह द्रव्य है, इस प्रकार अन्वयरूप से द्रव्य की व्यवस्था करता है वह अन्वयद्रव्यार्थिकनय है।

विशेषार्थ—स्वभावयुक्त भी द्रव्य है, गुणयुक्त भी द्रव्य है, पर्याययुक्त भी द्रव्य है—ऐसा कहा जाता है। इसलिये द्रव्यत्व के कारण कहीं पर भी जाति नहीं आती तथापि जो नय स्वभाव-विभाव रूप से अस्तिस्वभाव, नास्तिस्वभाव, नित्यस्वभाव इत्यादि अनेक स्वभावों को एकद्रव्यरूप से प्राप्त करके भिन्न-भिन्न नामों की व्यवस्था करता है, वह अन्वयद्रव्यार्थिकनय है।

इस नय का विशद कथन सूत्र ५३ के विशेषार्थ में किया जा चुका है।

स्वद्रव्यादिग्रहणमर्थः प्रयोजनमस्येति स्वद्रव्यादिग्राहकः ॥१८८॥

सूत्रार्थ—स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव अर्थात् स्वचतुष्टय को ग्रहण करना जिसका प्रयोजन है वह स्वद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिक नय है।

विशेषार्थ—सूत्र ५४ में इसका विशेष कथन हो चुका है।

परद्रव्यादिग्रहणमर्थः प्रयोजनमस्येति परद्रव्यादिग्राहकः ॥१८९॥

सूत्रार्थ—परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल, परस्वभाव अर्थात् परचतुष्टय को ग्रहण करना जिसका प्रयोजन है वह परद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिक नय है।

विशेषार्थ—इसका विशेष कथन सूत्र ५५ में है।

परमभावग्रहणमर्थः प्रयोजनमस्येति परमभावग्राहकः ॥१९०॥

सूत्रार्थ—परमभावग्रहण करना जिसका प्रयोजन है वह परमभावग्राहक द्रव्यार्थिक नय है।

विशेषार्थ—इस नय का विशेष कथन सूत्र ५६ में है।

॥ इस प्रकार द्रव्यार्थिक नय की व्युत्पत्ति का कथन हुआ ॥

पर्यायार्थिक नय का कथन

पर्याय एवार्थः प्रयोजनमस्येति पर्यायार्थिकः ॥१९१॥

सूत्रार्थ—पर्याय ही जिसका प्रयोजन है वह पर्यायार्थिक नय है।

विशेषार्थ—सूत्र ४१ के विशेषार्थ में इसका विशेष कथन है।

अनादिनित्यपर्याय एवार्थः प्रयोजनमस्येत्यानादिनित्य-पर्यायार्थिकः ॥१९२॥

सूत्रार्थ—अनादि, नित्य पर्याय जिसका प्रयोजन है वह अनादि-नित्य पर्यायार्थिक नय है।

विशेषार्थ—मेरु आदि, पुद्गल द्रव्य की अनादि-नित्य पर्याय है। इस नय का विशेष कथन सूत्र ५८ में है।

सादिनित्यपर्याय एवार्थः प्रयोजनमस्येति सादिनित्यपर्यायार्थिकः ॥१९३॥

सूत्रार्थ—सादि-नित्य पर्याय जिसका प्रयोजन है, वह सादि-नित्य पर्यायार्थिक नय है।

विशेषार्थ—जीव की सिद्ध पर्याय सादि है किन्तु नित्य है। इस नय का विशेष कथन सूत्र ५९ में है।

शुद्धपर्याय एवार्थः प्रयोजनमस्येति शुद्धपर्यायार्थिकः ॥१९४॥

सूत्रार्थ—शुद्धपर्याय जिसका प्रयोजन है, वह शुद्धपर्यायार्थिक नय है।

विशेषार्थ—शुद्ध द्रव्य की पर्याय शुद्ध होती है। धर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य, कालद्रव्य, सिद्धजीवद्रव्य और परमाणुरूप पुद्गलद्रव्य शुद्ध द्रव्य हैं अतः इनकी पर्यायें भी शुद्ध हैं, जो शुद्धपर्यायार्थिक नय का विषय है। शुद्धपर्यायार्थिक नय के नित्य, अनित्य की अपेक्षा दो भेद हैं जिनका कथन सूत्र ६२ व ६० में है।

अशुद्धपर्याय एवार्थः प्रयोजनमस्येत्यशुद्धपर्यायार्थिकः ॥१९५॥

सूत्रार्थ—अशुद्ध पर्याय जिसका प्रयोजन है, वह अशुद्ध पर्यायार्थिक नय है।

विशेषार्थ—पुद्गल की द्वयणुक आदि स्कंध पर्यायें और कर्मोपाधि सहित जीव की नर, नारक आदि पर्यायें अशुद्ध द्रव्यपर्यायें हैं। इन्हीं की अशुद्ध गुणपर्यायों सहित ये सब अशुद्ध पर्यायें इस नय का विषय हैं।

॥ इस प्रकार पर्यायार्थिक नय की व्युत्पत्ति का कथन हुआ ॥

नैकं गच्छतीति निगमः, निगमोविकल्पस्तत्रभवो नैगमः ॥१९६॥

सूत्रार्थ—जो एक को प्राप्त नहीं होता अर्थात् अनेक को प्राप्त होता है वह निगम है। निगम का अर्थ विकल्प है। जो विकल्प को ग्रहण करे वह नैगम नय है।

विशेषार्थ—इस नय का कथन सूत्र ४१ के विशेषार्थ में है। इसके भेदों का कथन सूत्र ६४ से ६७ तक है।

अभेदरूपतया वस्तुजातं संगृह्णातीति संग्रहः ॥१९७॥

सूत्रार्थ—जो नय अभेद रूप से सम्पूर्ण वस्तु समूह को विषय करता है, वह संग्रह नय है।

विशेषार्थ—इस नय का विशेष कथन सूत्र ४१ के विशेषार्थ में है। इसके भेदों का कथन सूत्र ६८ से ७० तक है।

संग्रहेण गृहीतार्थस्य भेदरूपतया वस्तुव्यवह्रियत इति व्यवहारः ॥१९८॥

सूत्रार्थ—संग्रह नय से ग्रहण किये हुए पदार्थ को भेदरूप से व्यवहार करता है, ग्रहण करता है, वह व्यवहार नय है।

विशेषार्थ—इसका विशेष कथन सूत्र ४१ के विशेषार्थ में है तथा इस नय के भेदों का कथन सूत्र ७१ व ७२ में है।

ऋजु प्रांजलं सूत्रयतीति ऋजुसूत्रः ॥१९९॥

सूत्रार्थ—जो नय ऋजु अर्थात् अवक्र, सरल को सूचित अर्थात् ग्रहण करता है वह ऋजुसूत्र नय है।

विशेषार्थ—इसका विशेष कथन सूत्र ४१ के विशेषार्थ में है तथा भेदों का कथन सूत्र ७३ से ७५ में है।

शब्दात् व्याकरणात् प्रकृतिप्रत्ययद्वारेण सिद्धः शब्दः शब्दनयः ॥२००॥

सूत्रार्थ—जो नय शब्द अर्थात् व्याकरण से प्रकृति और प्रत्यय के द्वारा सिद्ध अर्थात् निष्पन्न शब्द को मुख्यकर विषय करना है वह शब्द नय है।

विशेषार्थ—इस नय का कथन सूत्र ४१ के विशेषार्थ में तथा सूत्र ७७ में है।

परस्परेणाभिरूढाः समभिरूढाः । शब्दभेदेऽप्यर्थभेदो-नास्ति: । यथा शक्र इन्द्रः पुरन्दर इत्यादयः समभिरूढाः ॥२०१॥

सूत्रार्थ—परस्पर में अभिरूढ शब्दों को ग्रहण करने वाला नय समभिरूढ नय है। इस नय के विषय में शब्द-भेद होने पर भी अर्थ-भेद नहीं है। जैसे— शक्र, इन्द्र, पुरन्दर ये तीनों ही शब्द देवराज के पर्यायवाची होने से देवराज में ही अभिरूढ हैं।

विशेषार्थ—इस नय का विशेष कथन सूत्र ४१ के विशेषार्थ में है तथा सूत्र ७८ में भी है।

एवं क्रियाप्रधानत्वेन भूयत इत्येवंभूतः ॥२०२॥

सूत्रार्थ—जिस नय में वर्तमान क्रिया की प्रधानता होती है, वह एवंभूत नय है।

विशेषार्थ—इसका विशेष कथन सूत्र ४१ के विशेषार्थ में है तथा सूत्र ७९ मे भी इस नय का कथन है।

'चिड़िया ग्राम में, वृक्ष में, झाड़ी में, शाखा में, शाखा के एक भाग में, अपने शरीर में तथा कण्ठ में चहचहाती है'—इस दृष्टान्त में कहे गये सात स्थान सूक्ष्म, सूक्ष्म होते गये हैं। इसी प्रकार नैगमादि सात नयों का विषय भी सूक्ष्म, सूक्ष्म होता गया है। धवल पु० ७ पृ० २८-२९ पर कहा भी है—

कं पि णरं दट्ठूण य पावजणसमागमं करेमाणं।
णेगमणएण भण्णइ णेरइओ एस पुरिसो त्ति ॥१॥
ववहारस्स दु वयणं जइया कोदंड-कंडगयहत्थो।
भमइ मए मग्गंतो तइया सो होइ णेरइओ ॥२॥
उज्जुसुदस्स दु वयणं जइआ इर ठाइदूण ठाणम्मि।
आहणदि मए पावो तइया सो होइ णेरइओ ॥३॥
सद्दणयस्स दु वयणं जइया पाणेहि मोइदो जंतू।
तइया सो णेरइयो हिंसाकम्मेण संजुत्तो ॥४॥

वयणं तु समभिरूढं णारयकम्मस्स बंधगो जइया।
तइया सो णेरइओ णारयकम्मेण संजुत्तो ॥५॥
णिरयगइं संपत्तो जइया अणुहवइ णारयं दुक्खं।
तइया सो णेरइओ एवंभूदो णओ भणदि ॥६॥

अर्थ—किसी मनुष्य को पापी जीवों का समागम करते हुए देखकर नैगम नय से कहा जाता है कि यह पुरुष नारकी है। [जब वह मनुष्य प्राणिवध करने का विचार कर सामग्री का संग्रह करता है तब वह संग्रह नय से नारकी है।] जब कोई मनुष्य हाथ में धनुष और बाण लिये मृगों की खोज में भटकता फिरता है तब वह व्यवहार नय से नारकी कहलाता है। जब आखेट-स्थान पर बैठकर पापी, मृगों पर आघात करता है तब वह ऋजुसूत्र नय से नारकी है। जब जन्तु प्राणों से विमुक्त कर दिया जाय तभी वह आघात करने वाला, हिंसा कर्म से संयुक्त मनुष्य, शब्द नय से नारकी है। जब मनुष्य नारक कर्म का बंधक होकर नारक कर्म से संयुक्त हो जाय तब वह समभिरूढ नय से नारकी है। जब वही मनुष्य नारक गति को पहुँच कर नरक के दुःख अनुभव करने लगता है तब वह एवंभूत नय से नारकी है।

शुद्धाशुद्धनिश्चयौ द्रव्यार्थिकस्य भेदौ ॥२०३॥

सूत्रार्थ—शुद्धनिश्चय नय और अशुद्धनिश्चय नय ये दोनों द्रव्यार्थिक नय के भेद हैं।

निश्चयनय का लक्षण—

अभेदानुपचारितया वस्तुनिश्चीयत इति निश्चयः ॥२०४॥

सूत्रार्थ—अभेद और अनुपचारता से जो नय वस्तु का निश्चय करे वह निश्चय नय है।

विशेषार्थ—गुण-गुणी पर्याय-पर्यायी का भेद अथवा द्रव्य में पर्याय या गुण-भेद निश्चय नय का विषय नहीं है, जैसा कि समयसार गाथा ६ व ७ में कहा गया है। अन्य द्रव्य के सम्बन्ध से द्रव्य में उपचरित होने, वाले धर्म

भी निश्चय नय का विषय नहीं है। अतः इस निश्चय नय का विषय, भेद और उपचार की अपेक्षा से रहित अखण्ड द्रव्य है। गाथा ४ में कहा भी गया है कि निश्चय नय का हेतु द्रव्यार्थिक नय है।

व्यवहारनय का लक्षण—

भेदोपचारितया वस्तुव्यवह्रियत इति व्यवहारः ॥२०५॥

सूत्रार्थ—जो नय भेद और उपचार से वस्तु का व्यवहार करता है, वह व्यवहारनय है।

विशेषार्थ—गुण-गुणी का भेद करके या पर्याय-पर्यायी का भेद करके जो वस्तु को ग्रहण करता है वह व्यवहारनय है। जैसे—जीव के ज्ञान, दर्शन आदि गुण तथा नर, नारक आदि पर्यायें। पुद्गल के मूर्तिक गुण को जीव में बतलाना और जीव के चेतन गुण को पुद्गल में बतलाना इस प्रकार उपचार करके वस्तु को ग्रहण करना व्यवहारनय का विषय है। गाथा ४ में कहा गया है कि व्यवहारनय का हेतु पर्यायार्थिक नय है।

यह भेद सर्वथा असत्य भी नहीं है। यदि इसको सर्वथा असत्य मान लिया जाय तो आकाश के लोकाकाश और अलोकाकाश ऐसे भेद सम्भव नहीं हैं तथा प्रत्यक्ष के विषयभूत जीव में मनुष्य, तिर्यंच आदि पर्यायों की अपेक्षा भेद भी सम्भव नहीं होगा तथा गुण-गुणी आदि में संज्ञा, लक्षण, प्रयोजन की अपेक्षा भेद सिद्ध नहीं होगा।

यदि उपचार को सर्वथा असत्य मान लिया जाय तो सिद्ध भगवान के सर्वज्ञता का लोप हो जायगा, जीव में मूर्तत्व के अभाव में संसार का लोप हो जायगा। ऐसा सूत्र १४३ व १४६ में कहा गया है।

अतः व्यवहार का विषय भी यथार्थ है।

सद्भूत व्यवहारनय का लक्षण—

गुणगुणिनोः संज्ञादिभेदात् भेदकः सद्भूतव्यवहारः ॥२०६॥

सूत्रार्थ—संज्ञा, संख्या, लक्षण और प्रयोजन के भेद से जो नय गुण-गुणी में भेद करता है वह सद्भूत व्यवहारनय है।

विशेषार्थ—सूत्र ४८ के विशेषार्थ में इसका विशेष कथन है और भेदों का कथन सूत्र ८१–८२–८३ में है।

असद्भूत व्यवहारनय का लक्षण—

अन्यत्र प्रसिद्धस्य धर्मस्यान्यत्र समारोपणमसद्भूतव्यवहारः ॥२०७॥

सूत्रार्थ—अन्यत्र प्रसिद्ध धर्म (स्वभाव) अन्यत्र समारोप (निक्षेप) करने वाला असद्भूत व्यवहारनय है।

विशेषार्थ—इसका विशेष कथन सूत्र ४४ के विशेषार्थ में है और इसके भेदों का कथन सूत्र ८४ से ८७ तक है।

उपचरितासद्भूत व्यवहारनय का लक्षण—

असद्भूतव्यवहार एवोपचारः, उपचारादप्युपचारं यः करोति स उपचरितासद्भूतव्यवहारः ॥२०८॥

सूत्रार्थ—असद्भूत व्यवहार ही उपचार है, जो नय उपचार से भी उपचार करता है वह उपचरित-असद्भूत-व्यवहार नय है।

विशेषार्थ—उपचरित-असद्भूत-व्यवहार नय का विशेष कथन सूत्र ४४ के विशेषार्थ में है और इसके भेदों का कथन सूत्र ८८ से ९१ तक है।

सद्भूत व्यवहारनय का विषय—

गुणगुणिनोः पर्यायपर्यायिणोः स्वभावस्वभाविनोः कारक-कारकिणोर्भेदः सद्भूतव्यवहारस्यार्थः ॥२०९॥

सूत्रार्थ—गुण-गुणी में, पर्याय-पर्यायी में, स्वभाव-स्वभावी में, कारक-कारकी में भेद करना सद्भूत व्यवहारनय का विषय है।

विशेषार्थ—इसका विशेष कथन सूत्र ४४ के विशेषार्थ में है तथा भेदों का कथन सूत्र ८१–८२–८३ में है।

असद्भूत व्यवहारनय का विषय—

१. द्रव्ये द्रव्योपचारः, २. पर्याये पर्यायोपचारः, ३. गुणे गुणोपचारः, ४. द्रव्ये गुणोपचारः, ५. द्रव्ये पर्यायोपचारः, ६. गुणे द्रव्योपचारः, ७. गुणे पर्यायोपचारः, ८. पर्याये द्रव्योपचारः, ९. पर्याये गुणोपचार इति नवविधोपचारः असद्भूतव्यवहारस्यार्थो द्रष्टव्यः ॥२१०॥

सूत्रार्थ—१. द्रव्य में द्रव्य का उपचार, २. पर्याय में पर्याय का उपचार, ३. गुण में गुण का उपचार, ४. द्रव्य में गुण का उपचार, ५. द्रव्य में पर्याय का उपचार, ६. गुण में द्रव्य का उपचार, ७. गुण में पर्याय का उपचार, ८. पर्याय में द्रव्य का उपचार, ९. पर्याय में गुण का उपचार, ऐसे नौ प्रकार का उपचार असद्भून व्यवहारनय का विषय है।

विशेषार्थ—यद्यपि सूत्र ४४ के विशेषार्थ में इन नौ प्रकार के उपचारों का विशेष कथन है तथापि संस्कृत नयचक्र के पृ० ४५ के अनुसार कथन किया जाता है—

शरीरमपि यो जीवं प्राणिनो वदति स्फुटं।
असद्भूतो विजातीयो ज्ञातव्यो मुनिवाक्यतः ॥१॥

अर्थ—प्राणी के शरीर को ही जीव कहना—यहां विजाति पुद्गल द्रव्य में विजाति जीव द्रव्य का उपचार किया गया है। यह असद्भूतव्यवहार नय का विषय है।

मूर्तमेवमिति ज्ञानं कर्मणा जनितं यतः।
यदि नैव भवेन्मूर्तं मूर्तेन स्खलितं कुतः ॥२॥

अर्थ—मतिज्ञान मूर्तिक है क्योंकि कर्मजनित है। यदि ज्ञान मूर्त न होता

जो मूर्त पदार्थ से उत्पन्न क्यों होता। यह विजातीय गुण में विजातीय गुण का उपचार है जो असद्भूत व्यवहारनय का विषय है।

प्रतिबिंबं समालोक्य यस्य चित्रादिषु स्थितं।
तदेव तत्र यो ब्रूयादसद्भूतो स उदाहृतः ॥३॥

अर्थ—किसी के प्रतिबिंब को देखकर, जिसका वह चित्र हो उसको उस रूप बतलाना असद्भूतव्यवहार नय का उदाहरण है। यहाँ पर्याय में पर्याय का उपचार है।

जीवाजीवमपि ज्ञेयं ज्ञानं ज्ञानस्य गोचरात्।
उच्यते येन लोकेस्मिन् सोऽसद्भूतो निगद्यते ॥४॥

अर्थ—ज्ञान का विषय होने से जीव-अजीव-ज्ञेय ज्ञान है, लोक में ऐसा कहा जाता है। यह असद्भूतव्यवहार नय है। द्रव्य में गुण का उपचार किया गया है।

अणुरेकप्रदेशोपि येनानेकप्रदेशकः।
वाच्यो भवेदसद्भूतो व्यवहारः स भण्यते ॥५॥

अर्थ—जो नय एकप्रदेशी परमाणु को भी बहुप्रदेशी कहता है वह असद्भूत व्यवहारनय है। यहाँ द्रव्य में पर्याय का उपचार किया गया है।

स्वजातीयगुणे द्रव्यं स्वजातेरुपचारतः।
रूपं च द्रव्यमाख्याति श्वेतः प्रसादको यथा ॥६॥

अर्थ—स्वजाति गुण में स्वजाति द्रव्य का उपचार। जैसे—सफेद महल। यहाँ पर रूप गुण में महल द्रव्य का उपचार किया गया है।

ज्ञानमेव हि पर्यायं पर्यायं परिणामिवत्।
गुणोपचारपर्यायो व्यवहारो वदत्यसौ ॥७।

अर्थ—पर्याय में परिणमन करने वाले की तरह ज्ञान ही पर्याय है। यह गुण में पर्याय का उपचार है। यह असद्भूत व्यवहार नय का विषय है।

उपचारो हि पर्याये येन द्रव्यस्य सूच्यते ।
असद्भूतः समाख्यातः स्कंधेपि द्रव्यता यथा ॥८॥

अर्थ—पर्याय में द्रव्य का उपचार। जैसे—स्कंध भी द्रव्य है। यह भी असद्भूतव्यवहार नय है।

यो दृष्ट्वा देहसंस्थानमाचष्टे रूपमुत्तमं ।
व्यवहारो ह्यसद्भूतः स्वजातीयसंज्ञकः ॥९॥

अर्थ—पर्याय में गुण का आरोप करना भी असद्भूत व्यवहार है। जैसे—देह के संस्थान को देखकर यह कहा जाता है कि यह उत्तम रूप है।

इस प्रकार उपर्युक्त नौ प्रकार का उपचार भी असद्भूत व्यवहार नय का विषय है।

उपचरित असद्भूत व्यवहार नय का कथन—

उपचारः पृथग् नयो नास्तीति न पृथक् कृतः ॥२११॥

सूत्रार्थ—उपचार पृथक् नय नहीं है अतः उसको पृथक् रूप से नय नहीं कहा है।

विशेषार्थ—व्यवहार नय के तीन भेद कहे हैं १. सद्भूत व्यवहार, २. असद्भूत व्यवहार, ३ उपचरित असद्भूत व्यवहार। इस तीसरे भेद में उपचार नय का अन्तर्भाव हो जाता है।

मुख्याभावे सति प्रयोजने निमित्ते चोपचारः प्रवर्तते ॥२१२॥

अर्थ—मुख्य के अभाव में प्रयोजनवश या निमित्तवश उपचार की प्रवृत्ति होती है।

विशेषार्थ—विलाव को सिंह कहना। यहां पर विलाव और सिंह में सादृश्य सम्बन्ध है अतः सिंहरूप मुख्य के अभाव में सिंह को समझाने के लिये विलाव को सिंह कहा गया है। चूहे और सिंह में सादृश्य सम्बंध नहीं है अतः

भूसे में सिंह का उपचार नहीं किया जाता है।

टिप्पण अनुसार—यदि यहां कोई प्रश्न करे कि उपचार नय पृथक् क्यों कहा गया, यह तो व्यवहारनय का ही भेद है इसलिये व्यवहारनय का ही कथन करना चाहिये था—तो इसका उत्तर दिया जाता है कि उपचार के कथन बिना, किसी भी एक कार्य की सिद्धि नहीं होती। जहाँ पर मुख्य वस्तु का अभाव हो, वहां पर प्रयोजन या निमित्त के उपलब्ध होने पर उपचार की प्रवृत्ति की जाती है। वह उपचार भी सम्बन्ध के बिना नहीं होता। इस प्रकार उपचरित असद्भूत व्यवहार नय की प्रवृत्ति होती है। इसलिये उपचरित नय भिन्न रूप से कही गई है। सूत्र ४४ के विशेषार्थ में भी इस नय का कथन है। इसके भेदों का कथन सूत्र ८८ से ९१ तक है।

सम्बन्ध का कथन—

सोऽपि सम्बन्धोऽविनाभावः, संश्लेषः सम्बन्धः, परिणामपरिणामिसम्बन्धः, श्रद्धाश्रद्धेयसम्बन्धः, ज्ञानज्ञेयसम्बन्धः, चारित्रचर्यासम्बन्धश्चेत्यादि, सत्यार्थः असत्यार्थः सत्यासत्यार्थश्चेत्युपचरितासद्भूतव्यवहारनयस्यार्थः ॥२१३॥

सूत्रार्थ - वह सम्बन्ध भी सत्यार्थ अर्थात् स्वजाति पदार्थों में, असत्यार्थ अर्थात् विजाति पदार्थों में तथा सत्यासत्यार्थ अर्थात् स्वजाति-विजाति, उभय पदार्थों में निम्न प्रकार का होता है—१. अविनाभावसम्बन्ध, २. संश्लेष सम्बन्ध, ३. परिणामपरिणामिसम्बन्ध, ४. श्रद्धाश्रद्धेयसम्बन्ध, ५. ज्ञानज्ञेय-सम्बन्ध, ६. चारित्रचर्या सम्बन्ध इत्यादि।

विशेषार्थ—इस नय का कथन सूत्र ८८ में भी है। इत्यादि से निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध, स्वस्वामी सम्बन्ध, वाच्य-वाचक सम्बन्ध, प्रमाण-प्रमेय सम्बन्ध, बंध्य-बंधक सम्बन्ध, घात्य-घातक सम्बन्ध आदि को भी ग्रहण कर लेना चाहिये। ये सम्बन्ध यथार्थ हैं। यदि इनको यथार्थ न माना जावे तो संसार का, मोक्ष का, मोक्ष-मार्ग का, ज्ञान का और ज्ञेयों का, प्रमाण और प्रमेयों अर्थात् द्रव्यों का भी अभाव हो जायगा। सर्वज्ञ का भी अभाव हो

जायगा। तत्त्वार्थ सूत्र में कहा गया है—

'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् ॥१/२॥ सर्वद्रव्यपर्यायेषुकेवलस्य ॥१/२६॥असदभिदानमनृतम् ॥७/१४॥ अदत्तादानं स्तेयम् ॥७/१५॥ मैथुनमब्रह्म ॥७/१६॥

जीव, अजीव, आस्रव, वंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष इन सात तत्त्वों का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है जो मोक्षमहल की प्रथम सीढ़ी है। यदि इन सात तत्त्वों के साथ श्रद्धान-श्रद्धेय सम्वन्ध यथार्थ न माना जाय तो सम्यग्दर्शन के लक्षण का अभाव हो जायगा और लक्षण के अभाव में लक्ष्य रूप सम्यग्दर्शन का अभाव हो जायगा। सम्यग्दर्शन के अभाव में मोक्षमार्ग का भी अभाव हो जायगा।

यदि वंध्य वंधक सम्वन्ध को यथार्थ न माना जाय तो वंध तत्त्व का अभाव हो जायगा। वंध के अभाव में संसार व निर्जरा तत्त्व और मोक्ष तत्त्व का भी अभाव हो जायगा, क्योंकि वंध अवस्था का नाम संसार है, वंधे हुए कर्मों का एक देश झड़ना निर्जरा है, तथा वंध से मुक्त होने का नाम मोक्ष है। वृहद्द्रव्यसंग्रह गाथा ५७ की टीका में कहा भी है—

मुक्तश्चेत् प्राक्भवेद्बन्धो नो बन्धो मोचनं कथम्।
अवंधे मोचनं नैव मुञ्चेरर्थो निरर्थकः॥

अर्थ—यदि जीव मुक्त है तो पहले इस जीव के वध अवश्य होना चाहिये, यदि वंध न हो तो मोक्ष कैसे हो सकता है?

यदि ज्ञेय-ज्ञायक सम्वन्ध यथार्थ न हो तो 'सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य' यह सूत्र निरर्थक हो जायगा और इस सूत्र के निरर्थक हो जाने पर सर्वज्ञ का अभाव हो जायगा। ज्ञेय-ज्ञायक सम्वन्ध के अभाव में पदार्थों का ज्ञान नहीं हो सकेगा और द्रव्यों में से 'प्रमेयत्व' गुण का अभाव हो जायगा। ज्ञेय व प्रमेय के अभाव में ज्ञान व प्रमाण का भी अभाव हो जायगा।

यदि वाच्य वाचक सम्वन्ध को यथार्थ न माना जावे तो 'असदभिदानमनृतम्' सूत्र निरर्थक हो जायगा। अथवा मोक्षमार्ग के उपदेश तथा

मोक्षमार्ग का ही अभाव हो जायगा। धवल पु० १ पृ० १० पर कहा है—

शब्दात्पदप्रसिद्धिः पदसिद्धेरर्थनिर्णयो भवति।
अर्थात्तत्वज्ञानं तत्त्वज्ञानात्परं श्रेयः॥

अर्थ—शब्द से पद की सिद्धि होती है, पद की सिद्धि से उसके अर्थ का निर्णय होता है, अर्थ-निर्णय से तत्त्वज्ञान होता है और तत्त्वज्ञान से परम कल्याण होता है।

यदि स्वस्वामी-सम्बन्ध यथार्थ न माना जाय तो 'अदत्तादानं स्तेयम्' यह सूत्र निरर्थक हो जायगा, क्योंकि जब कोई स्वामी ही नहीं तो आहारादिक दान देने का किसी को अधिकार भी नहीं रहेगा। अत दान, दातार, देय और पात्र सभी का लोप हो जायगा। इससे मोक्षमार्ग का भी अभाव हो जायगा।

पति-पत्नी सम्बन्ध यथार्थ न माना जाय तो स्वदारासन्तोष व्रत तथा पर-स्त्री-त्याग व्रत का अभाव हो जायगा।

इस प्रकार उपचरित असद्भूत-व्यवहारनय का विषय यथार्थ है, सर्वथा अयथार्थ नहीं है। यदि सर्वथा, एकान्त से अनुपचरित को यथार्थ माना जाय और उपचरित को अयथार्थ मानकर छोड़ दिया जाय तो परज्ञता का विरोध हो जायगा, ऐसा सूत्र १४९ में कहा है।

॥ इस प्रकार आगम नय का निरूपण हुआ॥

अध्यात्म भाषा से नयों का कथन

पुनरप्यध्यात्मभाषया नया उच्यन्ते ॥२१४॥

सूत्रार्थ—फिर भी अध्यात्म-भाषा से नयों का कथन करते हैं।

तावन्मूलनयौ द्वौ निश्चयो व्यवहारश्च ॥२१५॥

सूत्रार्थ—नयों के मूल भेद दो हैं—एक निश्चय नय और दूसरा व्यवहार नय।

तत्र निश्चयनयोऽभेदविषयो, व्यवहारो भेदविषयः ॥२१६॥

सूत्रार्थ—निश्चय नय का विषय अभेद है। व्यवहार नय का विषय भेद है।

विशेषार्थ—गुण और गुणी में तथा पर्याय-पर्यायी आदि में भेद न करके, जो नय वस्तु को ग्रहण करता है वह निश्चय नय है। गुण-गुणी के भेद द्वारा अथवा पर्याय-पर्यायी के भेद द्वारा, जो नय वस्तु को ग्रहण करता है वह व्यवहार नय है। गाथा ४ में कहा गया है कि निश्चय नय का हेतु द्रव्यार्थिक नय है और व्यवहार नय का हेतु पर्यायार्थिक नय है।

तत्र निश्चयो द्विविधः शुद्धनिश्चयोऽशुद्धनिश्चयश्च ॥२१७॥

सूत्रार्थ—उनमें से निश्चय नय दो प्रकार का है—१. शुद्धनिश्चय, २. अशुद्धनिश्चय।

विशेषार्थ—शुद्धनिश्चय नय का विषय शुद्धद्रव्य है। अशुद्धनिश्चय नय का विषय अशुद्ध द्रव्य है।

तत्र निरुपाधिकगुणगुण्यभेद विषयकः शुद्धनिश्चयो यथा केवलज्ञानादयो जीव इति ॥२१८॥

सूत्रार्थ—उनमें से जो नय कर्मजनित विकार से रहित गुण और गुणी को अभेद रूप से ग्रहण करता है, वह शुद्धनिश्चय नय है। जैसे—केवलज्ञान आदि स्वरूप जीव है। अर्थात् जीव केवलज्ञानमयी है, क्योंकि ज्ञान जीव-स्वरूप है।

विशेषार्थ—इस शुद्धनिश्चय नय की अपेक्षा जीव के न बंध है, न मोक्ष है और न गुणस्थान आदि हैं।

'बंधश्च शुद्धनिश्चयनयेन नास्ति तथा बंधपूर्वको मोक्षोऽपि। यदि पुनः शुद्धनिश्चयेन बंधो भवति तदा सर्वदैव बंध एव, मोक्षो नास्ति।' [वृहद्द्रव्यसंग्रह गाथा ५७ टीका]

अर्थ—शुद्धनिश्चय नय की अपेक्षा बंध है ही नहीं। इसी प्रकार शुद्ध-निश्चय नय की अपेक्षा बंधपूर्वक मोक्ष भी नहीं है। यदि शुद्धनिश्चय नय की अपेक्षा बंध होवे तो सदा ही बंध होता रहे, मोक्ष ही न हो।

णवि होदि अप्पमत्तो ण पमत्तो जाणओ दु जो भावो।
एवं भणंति सुद्धं णाओ जो सो उ सो चेव ॥६॥
ववहारेणुवदिस्सइ णाणिस्स चरित्त दंसणं णाणं।
णवि णाणं ण चरित्तं ण दंसणं जाणगो सुद्धो ॥७॥
[समयसार]

अर्थात्—शुद्धनिश्चय नय की अपेक्षा जीव प्रमत्त (मिथ्यादृष्टि गुणस्थान से प्रमत्तसंयत गुणस्थान अर्थात् प्रथम छह गुणस्थान रूप) भी नहीं और अप्रमत्त (सातवें से चौदहवें गुणस्थान तक इन आठ गुणस्थान रूप) भी नहीं है। सद्भूतव्यवहार नय से जीव के चारित्र, दर्शन और ज्ञान कहे गये हैं। शुद्ध-निश्चय नय से जीव के न ज्ञान है, न चारित्र है और न दर्शन है।

इस प्रकार का अभेद शुद्धनिश्चय नय का विषय है।

सोपाधिकविषयोऽशुद्धनिश्चयो यथा मतिज्ञानादयो जीव इति ॥२१६॥

सूत्रार्थ—जो नय कर्मजनित विकार सहित गुण और गुणी को अभेदरूप से ग्रहण करता है वह अशुद्धनिश्चय नय है। जैसे—मतिज्ञानादि स्वरूप जीव।

विशेषार्थ—अशुद्धनिश्चय नय संसारी जीव को गुण और गुणी में अभेद दृष्टि से ग्रहण करता है, क्योंकि संसारी जीव कर्मजनित विकार सहित होता है। संसारी जीव में 'मतिज्ञान' ज्ञान गुण की विकारी अवस्था है। अतः निश्चयनय मतिज्ञान और संसारी जीव को अभेद रूप से ग्रहण करता है। जैसे—मतिज्ञानमयी जीव। क्योंकि, ज्ञान जीवस्वरूप है।

शुद्धनिश्चय नय की अपेक्षा अशुद्धनिश्चय नय भी व्यवहार है, ऐसा समयसार गाथा ५७ टीका में कहा गया है—

'ननु वर्णादयो बहिरंगास्तत्र व्यवहारेण क्षीरनीरवत्संश्लेषसंबंधो

भवतु नचाभ्यंतराणां रागादीनां तत्राशुद्धनिश्चयेन भवितव्यमिति ? नैवं, द्रव्यकर्मबंधापेक्षया योसौ असद्भूतव्यवहारस्तदपेक्षया तारतम्य-ज्ञापनार्थं रागादीनामशुद्धनिश्चयो भण्यते। वस्तुतस्तु शुद्धनिश्चयापेक्षया पुनरशुद्धनिश्चयोपि व्यवहार एवेति भावार्थः ॥५७॥'

अर्थात्—यह शंका की गई कि वर्णादि तो बहिरंग हैं, इनकी साथ आत्मा का क्षीर-नीरवत् संश्लेष संबंध होहु किन्तु अभ्यन्तर में उत्पन्न होने वाले रागादि का आत्मा के साथ व्यवहारनय से संश्लेष सम्बन्ध नहीं हो सकता, क्योंकि रागादि का सम्बन्ध अशुद्ध निश्चयनय से है ? आचार्य समाधान करते हैं कि ऐसा नहीं है, द्रव्यकर्म-बंध की अपेक्षा यह जो असद्भूत व्यवहार-नय है, उस व्यवहारनय की अपेक्षा तरतमता दिखलाने के लिये रागादि का सम्बन्ध अशुद्ध निश्चयनय से कह दिया गया। वास्तव में शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा अशुद्ध निश्चयनय भी व्यवहार है।

'यद्यप्यशुद्धनिश्चयेन चेतनानि तथापि शुद्धनिश्चयेन नित्यं सर्वकालमचेतनानि। अशुद्धनिश्चयस्तु वस्तुतो यद्यपि द्रव्यकर्मापेक्षयाभ्यंतररागादयश्चेतना इति मत्वा निश्चयसंज्ञां लभते तथापि शुद्धनिश्चयापेक्षया व्यवहार एव। इति व्याख्यानं निश्चयव्यवहारनय विचारकाले सर्वत्र ज्ञातव्यं।' [समयसार गाथा ६८ टीका]

अर्थात्—रागादि यद्यपि अशुद्ध निश्चयनय से चेतन है तथापि शुद्ध निश्चयनय से नित्य सर्वकाल अचेतन हैं। यद्यपि द्रव्यकर्म की अपेक्षा आभ्यन्तर रागादि चेतन हैं ऐसा माना गया है और निश्चय संज्ञा को प्राप्त हैं तथापि शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा वस्तुतः अशुद्ध निश्चयनय व्यवहार ही है। निश्चय नय और व्यवहारनय के विचार काल में यह व्याख्यान सर्वत्र जान लेना चाहिये।

'द्रव्यकर्माण्यचेतनानि भावकर्माणि च चेतनानि तथापि शु निश्चयापेक्षया अचेतनान्येव। यतः कारणादशुद्धनिश्चयोपि

निश्चयापेक्षया व्यवहार एव । अयमत्र भावार्थः । द्रव्यकर्मणां कर्तृत्वं भोक्तृत्वं चानुपचरितासद्भूतव्यवहारेण रागादिभावकर्मणां चाशुद्धनिश्चयेन । स च शुद्धनिश्चयापेक्षया व्यवहारएवेति ।'

[समयसार गाथा ११५ टीका]

अर्थ—द्रव्यकर्म अचेतन हैं, भावकर्म चेतन हैं तथापि शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा भावकर्म अचेतन हैं। इसलिये शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा अशुद्ध निश्चयनय व्यवहार ही है। आत्मा द्रव्यकर्मों का कर्ता व भोक्ता है, यह अनुपचरित असद्भूतव्यवहारनय का विषय है और रागादि का भोक्ता और कर्ता है, यह अशुद्धनिश्चय नय का विषय है। वह अशुद्धनिश्चय नय भी शुद्धनिश्चय नय की अपेक्षा व्यवहार ही है।

अतः समयसार आदि ग्रन्थों में निश्चय और व्यवहार का यथार्थ अभिप्राय जानकर अर्थ करना चाहिये क्योंकि, कहीं-कहीं पर असद्भूत व्यवहारनय की अपेक्षा सद्भूतव्यवहार को भी निश्चय कह दिया गया है। जैसे, व्यवहार-षट्कारक असद्भूतव्यवहार नय की अपेक्षा हैं और निश्चयषट्कारक सद्भूत-व्यवहार नय की अपेक्षा हैं क्योंकि निश्चयनय में षट्कारक का भेद नहीं है।

व्यवहारो द्विविधः सद्भूतव्यवहारोऽसद्भूतव्यवहारश्च ॥२२०॥

सूत्रार्थ—सद्भूतव्यवहार नय और असद्भूतव्यवहार नय के भेद से व्यवहारनय दो प्रकार का है।

विशेषार्थ—एक सत्ता वाले पदार्थों को जो विषय करे वह सद्भूत-व्यवहार नय है और भिन्न सत्ता वाले पदार्थों को जो विषय करे वह असद्भूत-व्यवहार नय है।

तत्रैकवस्तुविषयः सद्भूतव्यवहारः ॥२२१॥

सूत्रार्थ—उनमें से एक वस्तु को विषय करने वाली सद्भूतव्यवहार नय है।

विशेषार्थ—जैसे वृक्ष एक है, उसमें लगी हुई शाखायें यद्यपि भिन्न हैं

तथापि वृक्ष ही हैं। उसी प्रकार सद्भूतव्यवहार नय गुण, गुणी का भेद कथन करती है। गुण-गुणी का संज्ञा, लक्षण, प्रयोजन आदि की अपेक्षा भेद है किन्तु प्रदेशसत्ता भिन्न नहीं है इसलिये एक वस्तु है। उस एक वस्तु में गुण-गुणी का संज्ञादि की अपेक्षा भेद करना सद्भूतव्यवहार नय का विषय है। जैसे—जीव के ज्ञान, दर्शनादि।

भिन्नवस्तुविषयोऽसद्भूतव्यवहारः ॥२२२॥

सूत्रार्थ– भिन्न वस्तुओं को विषय करने वाला असद्भूतव्यवहार नय है।

विशेषार्थ—जैसे एक स्थान पर भेड़ें तिष्ठती हैं परन्तु पृथक् पृथक् हैं, इसी प्रकार भिन्न-भिन्न सत्ता वाले पदार्थों के सम्बन्ध को विषय करने वाला असद्भूतव्यवहार है। जैसे—ज्ञान ज्ञेय पदार्थों को जानता है। अर्थात् ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध, वाच्य-वाचक सम्बन्ध आदि सब सम्बन्ध असद्भूतव्यवहार नय के विषय हैं।

तत्र सद्भूतव्यवहारो द्विविध उपचरितानुपचरितभेदात् ॥२२३॥

सूत्रार्थ—उपचरित और अनुपचरित के भेद से सद्भूतव्यवहार नय दो प्रकार का है।

विशेषार्थ—सद्भूतव्यवहार नय के दो भेद हैं—उपचरित-सद्भूत-व्यवहार नय और अनुपचरित-सद्भूतव्यवहार नय। सूत्र २२४ व २२५ में क्रमशः इनका स्वरूप कहा जायगा।

तत्र सोपाधिगुणगुणिनोर्भेदविषयः उपचरितसद्भूतव्यवहारो, यथा जीवस्य मतिज्ञानादयो गुणाः ॥२२४॥

सूत्रार्थ—उनमें से, कर्मजनित विकार सहित गुण और गुणी के भेद को विषय करने वाला उपचरित-सद्भूतव्यवहारनय है। जैसे—जीव के मति-ज्ञानादिक गुण।

विशेषार्थ—अशुद्धद्रव्य में गुण-गुणी का भेद कथन करने वाला उपचरित-

असद्भूतव्यवहार नय है। अशुद्धद्रव्य में गुण-गुणी का, प्रदेशत्व की अपेक्षा, अभेद कथन करना अशुद्धनिश्चय नय का विषय है, किन्तु संज्ञा, संख्या, लक्षण, प्रयोजन आदि की अपेक्षा भेद कथन करना उपचरित सद्भूतव्यवहार नय का विषय है। दोनों ही कथन अपनी अपनी अपेक्षा से वास्तविक हैं। इनमें से किसी का भी एकान्त ग्रहण करने से वस्तुस्वरूप का अभाव हो जायगा, क्योंकि वस्तु भेदाभेदात्मक, अनेकान्तमयी है।

निरुपाधिगुणगुणिनोर्भेदविषयोऽनुपचरितसद्भूतव्यवहारो, यथा जीवस्य केवलज्ञानादयो गुणाः ॥२२५॥

सूत्रार्थ—उपाधिरहित अर्थात् कर्मजनित विकार रहित जीव में गुण और गुणी के भेदरूप विषय को ग्रहण करने वाला अनुपचरित-सद्भूतव्यवहार है। जैसे - जीव के केवलज्ञानादि गुण।

विशेपार्थ—शुद्ध गुण-गुणी में भेद कथन करना अनुपचरित-सद्भूत-व्यवहार नय है। प्रदेशत्व की अपेक्षा शुद्ध गुण-गुणी में अभेद कथन करना शुद्धनिश्चय नय का विषय है किन्तु संज्ञा, संख्या, लक्षण, प्रयोजन आदि की अपेक्षा भेद कथन करना अनुपचरित-असद्भूतव्यवहार नय का विषय है। अपनी अपनी अपेक्षा दोनों ही कथन यथार्थ हैं। इनमें से किसी एक का भी एकान्त ग्रहण करने से वस्तुस्वरूप का लोप हो जायगा क्योंकि वस्तु भेदाभेदात्मक, अनेकान्तमयी है।

असद्भूतव्यवहारो द्विविधः उपचरितानुपचरितभेदात् ॥२२६॥

सूत्रार्थ—उपचरित और अनुपचरित के भेद से असद्भूतव्यवहार नय भी दो प्रकार का है।

विशेपार्थ—असद्भूतव्यवहार नय के दो भेद हैं—(१) उपचरितासद्भूत-व्यवहार नय, (२) अनुपचरितासद्भूतव्यवहार नय। इनका स्वरूप क्रमशः सूत्र २२७ व २२८ में कहा जायगा।

तत्र संश्लेषरहितवस्तुसम्बन्धविषय उपचरितासद्भूतव्यवहारो यथा देवदत्तस्य धनमिति ॥२२७॥

सूत्रार्थ—उनमें से संश्लेष सम्बन्ध रहित, ऐसी भिन्न वस्तुओं का परस्पर में सम्बन्ध ग्रहण करना उपचरितासद्भूतव्यवहार नय का विषय है। जैसे—देवदत्त का धन।

विशेषार्थ—देवदत्त भिन्न सत्ता वाला द्रव्य है और धन भिन्न सत्ता वाला द्रव्य है। इन दोनों का संश्लेष सम्बन्ध भी नहीं है। किन्तु, स्व-स्वामी सम्बन्ध है। देवदत्त धन का स्वामी है और धन उसका स्व है। देवदत्त को अधिकार है कि वह अपने धन को तीर्थ वन्दना, जिनमन्दिर-निर्माण तथा दान आदिक धर्म-कार्यों में व्यय करे या अपने भोगोपभोग में व्यय करे। देवदत्त के धन को व्यय करने का देवदत्त के अतिरिक्त अन्य किसी पुरुष को अधिकार नहीं है। देवदत्त के दिये विना यदि देवदत्त के धन को कोई अन्य पुरुष ग्रहण करता है तो वह चोर है, क्योंकि 'अदत्तादानं स्तेयम्' ऐसा आर्ष-वाक्य है। इसी प्रकार ज्ञान-ज्ञेय सम्बन्ध भी इस उपचरितासद्भूत-व्यवहार नय का विषय है, क्योंकि ज्ञान का स्वचतुष्टय भिन्न है और ज्ञेय-द्रव्यों का स्वचतुष्टय भिन्न है। ज्ञान और ज्ञेय में संश्लेष सम्बन्ध भी नहीं है तथापि ज्ञान ज्ञेयों को जानता है और ज्ञेय ज्ञान के द्वारा जाने जाते हैं। अतः ज्ञान-ज्ञेय सम्बन्ध यथार्थ है जो कि उपचरितासद्भूतव्यवहार नय का विषय है। यदि ज्ञान-ज्ञेय सम्बन्ध यथार्थ न हो तो सर्वज्ञता का अभाव हो जायगा। इसी प्रकार अन्य सम्बन्धों के विषय में भी जानना चाहिये।

संश्लेषसहितवस्तुसम्बन्धविषयोऽनुपचरितासद्भूतव्यवहारो, यथा जीवस्य शरीरमिति ॥२२८॥

सूत्रार्थ—संश्लेष सहित वस्तु के सम्बन्ध को विषय करने वाला अनुप-

-चरितासद्भूतव्यवहार नय है, जैसे जीव का शरीर इत्यादि।

विशेषार्थ—यद्यपि जीव का स्वचतुष्टय भिन्न है और शरीर का स्व-चतुष्टय भिन्न है, तथापि जीव और शरीर का संश्लेप सम्बन्ध है। जिस शरीर को धारण करे है, संकोच या विस्तार होकर आत्मप्रदेश उस शरीर-प्रमाण व आकाररूप हो जाय हैं। कहा भी है—

'अणुगुरुदेहपमाणो उवसंहारप्पसप्पदो चेदा।' [वृहद्द्रव्यसंग्रह]

अर्थात्—संकोच तथा विस्तार से यह जीव अपने छोटे और बड़े शरीर के प्रमाण रहता है।

आत्मा और शरीरादिकरूप पुद्गल के एक क्षेत्रावगाहरूप बंधान है, तहाँ आत्मा हलन, चलन आदि क्रिया करना चाहे और शरीर तिस शक्तिकर रहित है तो हलन, चलन क्रिया न होय सके। इसी प्रकार शरीर में हलन, चलन शक्ति पाइये है और आत्मा की इच्छा हलन, चलन की न होय तो भी हलन, चलन न होय सके। यदि शरीर बलवान होय हालै चालै तो उसके साथ बिना इच्छा भी आत्मा हालै, चालै। जैसे कांपनी वायु की रुग्ण अवस्था में बिना इच्छा भी आत्मा हालै चालै है। और अधरंग रोग में इच्छा होते हुए भी हलन, चलन क्रिया नहीं होती है।

शरीर, वचन, मन और प्राणापान—यह पुद्गलों का उपकार है। 'शरीर-वाङ्मनः प्राणापानाः पुद्गलानाम् ॥५/१६॥' [तत्त्वार्थ सूत्र] द्वारा ऐसा कहा भी गया है। शरीर, वचन और मन की क्रिया योग है और वही आस्रव है। कहा भी है—

कायवाङ्मनः कर्मयोगः ॥६/१॥ स आस्रवः ॥६/२॥' [त०सू०]

इस प्रकार भिन्न, भिन्न चतुष्टय वाले जीव और शरीर का संश्लेप संबंध है। यदि यह संश्लेष सम्बन्ध न माना जाय अथवा जीव का शरीर न माना तो शरीर के वध से हिंसा के अभाव का प्रसंग आ जायगा। कहा भी है—

आत्मशरीरविभेदं वदन्ति ये सर्वथा गतविवेकाः।
कायवधे हंत कथं तेषां संजायते हिंसा ॥६/२१॥

[अमितगति श्रावकाचार]

अर्थ—जो विवेक रहित आत्मा का और शरीर का सर्वथा भेद कहे हैं, तिन के मत में शरीर के वध होते संते हिंसा कैसे होय ? यह बड़े आश्चर्य की बात है।

यदि इस असद्भूतव्यवहार नय को यथार्थ न माना जाय और परमार्थ-नय (शुद्धनिश्चय नय) को सर्वथा यथार्थ माना जाये तो निम्न दोष आयेंगे—

१. परमार्थनय जीव को शरीर से भिन्न कहता है, यदि उसका ही एकान्त किया जाय तो निःशंकपने से त्रस, स्थावर जीवों का घात करना सिद्ध हो सकता है। जैसे भस्म के मर्दन करने में हिंसा का अभाव है उसी तरह. जीवों के शरीर को मारने में भी हिंसा सिद्ध नहीं होगी किन्तु हिंसा का अभाव ठहरेगा—तब उनके घात होने से बंध होने का भी अभाव ठहरेगा।

[समयसार गाथा ४६ टीका]

२. उसी तरह रागी, द्वेषी, मोही जीव कर्म से बंधता है और उसको छुड़ाना है—ऐसा कहा गया है। परमार्थ (निश्चय नय) से राग, द्वेष, मोह से जीव को भिन्न बतलाने से मोक्ष के उपाय का (मोक्षमार्ग का) उपदेश व्यर्थ हो जायगा—तब मोक्ष का भी अभाव ठहरेगा। [समयसार गाथा ४६ टीका]

अतः व्यवहारनय से भी वस्तुस्वरूप का कथन किया गया है।

श्री अमृतचन्द्राचार्य ने उपर्युक्त कथन को समयसार गाथा ४६ की टीका में निम्न शब्दों द्वारा कहा है—

'तमंतरेण तु शरीराज्जीवस्य परमार्थतो भेददर्शनात्त्रसस्थावराणां भस्मन इव निःशंकमुपमर्दनेन हिंसाऽभावाद्भवत्येव बंधस्याभावः। तथा रक्तो द्विष्टो विमूढो जीवो बध्यमानो मोचनीय इति रागद्वेष-

मोहेभ्यो जीवस्य परमार्थतो भेददर्शनेन मोक्षोपायपरिग्रहणाभावात् भवत्येव मोक्षस्याभावः ।'

अतः असद्भूतव्यवहार नय का विषय 'जीव का शरीर कहना' यथार्थ है।

।। इस प्रकार पदार्थ के सरल बोध के लिये श्रीमद्देवसेनाचार्य विरचित आलापपद्धति समाप्त हुई ।।

तेतीस व्यंजनाए सत्तावीसं स्वरा तहा भणिया ।
चत्तारिय योगवाहा चउसट्ठी मूल वण्णाउ ।।

गाथार्थ—३३ व्यंजन अक्षर हैं, २७ स्वर हैं और ४ योगवाह हैं। इस प्रकार ६४ मूल वर्ण हैं।

परिशिष्ट १

अनेकान्त व स्याद्वाद

भावः स्यादस्तिनास्तीति कुर्यान्निर्दोषमेव तं ।
फलेन चास्य संवन्धो नित्यानित्यादिकं तथा ।।

अर्थ—द्रव्य कथंचित् अस्ति है, कथंचित् नास्ति है, इस प्रकार की मान्यता निर्दोष है। फलितार्थ से उसी प्रकार कथंचित्-नित्य कथंचित्-अनित्य इत्यादिक से सम्बन्ध जोड़ना चाहिये।

स्यादस्ति। स्यात् केनचिदभिप्रायेण। कोसावभिप्रायः? स्वस्वरूपेणास्तित्वमिति। तर्हि स्याच्छब्देन किं। यथा स्वस्वरूपेणास्तित्वं तथा पररूपेणात्यस्तित्वं माभूदिति स्याच्छब्दः। स्यान्नास्तीति पररूपेणैव कुर्यात् स्यादस्तित्वाददोपतास्य फलं चास्यानेकस्वभावाधारत्वं नास्तिस्वभावस्य तु संकरादिदोपरक्षितत्त्व।

स्यान्नित्य। स्यात्केनचिदभिप्रायेण। कोसावभिप्रायो? द्रव्यरूपेण नित्य इति। तर्हि स्याच्छब्देन किं? यथा द्रव्यरूपेण नित्यत्वं तथा पर्यायरूपेण नित्यत्वं माभूदिति स्याच्छब्दः। स्यादनित्य इति पर्यायरूपेणैव कुर्यात्। स्यान्नित्यत्वाददोपता सफलं चास्य चिरकालावस्थायित्वं। अनित्यस्वभावस्य तु कर्मादानविमोचनादिकं स्वहेतुभिः।

स्यादेकः। स्यात्केनचिदभिप्रायेण। कोसावभिप्रायः? सामान्यरूपेणैकत्वमिति। तर्हि स्याच्छब्देन किं यथा सामान्यरूपेणैकत्वं तथा विशेपरूपेणाप्येकत्वं माभूदिति स्याच्छब्दः। स्यादनेक इति विशेपरूपेणैव कुर्यात्। स्यादेकत्वाददोपतास्य फलं चास्य सामान्यत्वसमर्थः। अनेकस्वभावस्य त्वनेकस्वभावदर्शकत्वं।

स्याद्भेदः । स्यात्केनचिदभिप्रायेण । कोसावभिप्रायः ? सद्भूतव्यवहारेण भेद इति । तर्हि स्याच्छब्देन किं ? यथा सद्भूतव्यवहारेण भेदस्तथा द्रव्यार्थिकेनापि माभूदिति स्याच्छब्दः । स्यादभेद इति द्रव्यार्थिकेनैव कुर्यात् । स्याद्भेदत्वाददोषतास्य फलं चास्य व्यवहारसिद्धिः । अभेदस्वभावस्य तु परमार्थसिद्धिः ।

स्याद्भव्यः । स्यात्केनचिदभिप्रायेण । कोसावभिप्रायः ? स्वकीय स्वरूपेण भवनादिति । तर्हि स्याच्छब्देन किं ? यथा स्वकीयरूपेण भवनं तथा पररूपेण भवनं माभूदिति स्याच्छब्दः । स्यादभव्य इति पररूपेणैव कुयात् । स्याद्भव्यत्वाददोषतास्य फलं चास्य स्वपर्यायपरिणामित्वं । अभव्यस्य तु परपर्यायत्यागित्वं ।

स्यात्परमः । स्यात्केनचिदभिप्रायेण । कोसावभिप्रायः ? पारिणामिकस्वभावत्वेनेति । तर्हि स्याच्छब्देन किं ? यथा पारिणामिकस्वभाव प्रधानत्वेन परस्वभावत्वं तथा कर्मजस्वभावप्रधानत्वेन माभूदिति स्याच्छब्दः । स्याद्विभाव इति कर्मजरूपेणैव कुर्यात् । स्यात्परमत्वाददोषतास्य फलं चास्य स्वभावादचलिता वृत्तिः । विभावस्य तु स्वभावे विकृतिः ।

स्याच्चेतनः । स्यात्केनचिदपि । कोसावभिप्रायः ? चेतनस्वभावप्रधानत्वेनेति । तर्हि स्याच्छब्देन किं ? यथा स्वभावप्रधानत्वेन चेतनत्वं तथाऽचेतनस्वभावेनापि चेतनत्वं माभूदिति स्याच्छब्दः । स्यादचेतन इति व्यवहारेणैव कुर्यात् । स्याच्चेतनत्वाददोषतास्य फलं चास्य कर्मादानं हानिर्वा । अचेतनस्वभावस्य तु कर्मादानमेव ।

स्यान्मूर्तः । स्यात्केनचिदभिप्रायेण । कोसावभिप्रायः ? असद्भूतव्यवहारेण मूर्त इति । तर्हि स्याच्छब्देन कि ? यथाऽसद्भूतव्यवहारेण मूर्त्तत्वं तथा परमभावेन मूर्त्तत्वं माभूदिति स्याच्छब्दः ।

स्यादमूर्त इति परमभावेनैव कुर्यात्। स्यान्मूर्त्तत्वाद्दोषतास्य फलं चास्य कर्मबन्धः। अमूर्त्तस्य तु स्वभावापरित्यागित्वं।

स्यादेकप्रदेशः। स्यात्केनचिद्भिप्रायेण। कोसावभिप्रायो? भेदकल्पना निरपेक्षेणेति। तर्हि स्याच्छब्देन किं? यथा भेदकल्पना निरपेक्षेणैकप्रदेशत्वं तथा व्यवहारेणाप्येकप्रदेशत्वं माभूदिति स्याच्छब्दः। स्यादनेकप्रदेश इति व्यवहारेणैव कुर्यात्। स्यादेकप्रदेशत्वाद्दोषतास्य फलं चास्य निश्चयादेकत्वसमर्थनं। अनेक प्रदेशस्य तु अनेककार्यकारित्वं।

स्याच्छुद्धः। स्यात्केनचिद्भिप्रायेण। कोसावभिप्रायः? केवलस्वभावप्रधानत्वेनेति। तर्हि स्याच्छब्देन किं। यथा केवलस्वभाव प्रधानत्वेन शुद्धस्वभावत्वं तथा मिश्रस्वभावप्रधानत्वेन शुद्धत्वं माभूदिति स्याच्छब्दः। स्यादशुद्ध इति मिश्रभावेनैव कुर्यात्। शुद्धत्वाद्दोषता तस्य फलं चास्य स्वभावावाप्तिः। अशुद्धस्वभावस्य तु तद्विपरीता।

स्यादुपचरितः। स्यात्केनचिद्भिप्रायेण। कोसावभिप्रायः? स्वभावस्याप्यन्यत्रोपचारादिति। तर्हि स्याच्छब्देन किं। यथा स्वभावस्याप्यन्यत्रोपचारादुपचरितस्वभावत्वं तथानुपचारेणाप्युपचारत्वं माभूदिति स्याच्छब्दः। स्यादनुपचरित इति निश्चयादेव कुर्यात्। स्यादुपचरिताद्दोपता तस्य फलं चास्य परज्ञतादयः। अनुपचरितस्वभावस्य तथापि विपरीतं।

[श्री आचार्य देवसेन कृत नयचक्र—सोलापुर से प्रकाशित]

अर्थ—स्यात्—किसी अभिप्राय से—द्रव्य अस्तिरूप है, सद्भावरूप है। वह अभिप्राय क्या है? स्वस्वरूप से वह है, यह अभिप्राय है। फिर स्यात् शब्द से क्या प्रयोजन है? जिस प्रकार स्वस्वरूप से है उसी प्रकार परस्वरूप से भी है, इस प्रकार की आपत्ति का निवारण करना स्यात् शब्द का प्रयोजन है।

कथंचित् परस्वरूप से नहीं है, इस प्रकार से प्रयोग करना चाहिए। कथंचित् अस्तित्व होने से दोष नहीं है। इसका फल अनेक स्वभाव-आधारत्वपना है। इतना विशेष है कि नास्तिस्वभाव के संकरादि दोष रहितपना है।

स्यात् अर्थात् किसी अभिप्राय से द्रव्य नित्य है। वह अभिप्राय क्या है ? द्रव्यरूप से नित्य है, यह अभिप्राय है। फिर स्यात् शब्द से क्या प्रयोजन है ? जिस प्रकार द्रव्य रूप से नित्य है उसी प्रकार पर्याय रूप से भी नित्य है, इस प्रकार की आपत्ति का निवारण करना स्यात् शब्द का प्रयोजन है। कथंचित् पर्यायरूप से अनित्य है, इस प्रकार से प्रयोग करना चाहिए। स्यात् या कथंचित् का प्रयोग होने से नित्यता के निर्दोषता है। इसका फल चिरकाल तक स्थायीपना है। किन्तु, अनित्यस्वभाव से तो कर्म-ग्रहण व मोचन निज हेतुओं के द्वारा होते हैं।

स्यात् द्रव्य के एकपना है। स्यात् अर्थात् किसी अभिप्राय से। वह अभिप्राय क्या है ? सामान्य रूप से द्रव्य के एकपना है, यह अभिप्राय है। फिर स्यात् शब्द से क्या प्रयोजन है ? जिस प्रकार सामान्यरूप से द्रव्य के एकपना है, उसी प्रकार विशेषरूप से द्रव्य के अनेकपना है, इस प्रकार की आपत्ति का निवारण करना स्यात् शब्द का प्रयोजन है। कथंचित् विशेषरूप से अनेकपना है, इस प्रकार से प्रयोग करना चाहिए। स्यात् या कथंचित् का प्रयोग होने से एकत्व के निर्दोषता है। इसका फल सामान्यपने में समर्थ है। अनेकस्वभाव से तो अनेकपना है, ऐसा दिखाना है।

कथंचित् भेद है। किसी अभिप्राय से अर्थात् सद्भूतव्यवहार से, भेद है। स्यात् शब्द से यहां क्या प्रयोजन है ? जिस प्रकार सद्भूतव्यवहार नय से भेद है, उसी प्रकार द्रव्यार्थिक नय (निश्चय नय) से भेद न हो, यह स्यात् पद का प्रयोजन है। कथंचित् अभेद है, यह प्रयोग द्रव्यार्थिक नय से करना चाहिए। कथंचित् का प्रयोग होने से भेदपना के निर्दोषता है और इसका फल व्यवहार की सिद्धि है, किन्तु अभेद स्वभाव से परमार्थ की सिद्धि होती है।

कथंचित् भव्य है। किसी अभिप्राय से अर्थात् स्वकीय स्वरूप से परिणमन हो सकने से भव्यस्वरूप है। स्यात् शब्द से क्या प्रयोजन है ? जिस प्रकार स्वकीयस्वरूप से परिणमन हो सकता है वैसे परकीय रूप से परिणमन

न हो सके यह यहां पर स्यात् शब्द से प्रयोजन है। कथंचित् अभव्य है, यह कथन 'पररूप से परिणमन नहीं होने से' ही करना चाहिए। कथंचित् अभव्यता मानने से इसमें दोष नहीं है और इसका फल स्वकीयरूप से परिणत होना है किन्तु अभव्यता का फल परपर्याय रूप से परिणमन का त्यागपना है।

कथंचित् परमस्वभावरूप है। किसी अभिप्राय से अर्थात् पारिणामिक भाव से परमस्वभावरूप है। स्यात् शब्द से यहां क्या प्रयोजन है? जिस प्रकार पारिणामिक भाव से परमस्वरूप है उसी प्रकार कर्मजनित भाव से परमस्वभाव न हो। कथंचित् विभावरूप है, यह कर्मजभाव से होता है। कथंचित् परमस्वभाव होने से दोष नहीं है, इसका फल स्वभाव से अचलित रूप वृत्ति है। किन्तु विभाव का फल स्वभाव में विकृति है।

कथंचित् चेतन है। किसी अभिप्राय से अर्थात् चेतनस्वभाव की प्रधानता से चेतन है। यहाँ स्यात् शब्द से क्या प्रयोजन है? जिस प्रकार चेतनस्वभाव की प्रधानता से चेतनत्व है, वैसे अचेतनत्व की अपेक्षा न हो, यह स्यात् शब्द का प्रयोजन है। कथंचित् अचेतन है, यह व्यवहार से कहना चाहिये। कथंचित् चेतनपना होने से इसके दोष नहीं हैं, इसका फल कर्म की हानि है। किन्तु अचेतनस्वभाव के मानने का फल कर्म का ग्रहण ही है।

कथंचित् मूर्त है। किसी अभिप्राय से अर्थात् असद्भूत व्यवहारनय से मूर्त है। यहां स्यात् शब्द से क्या प्रयोजन है? जिस प्रकार असद्भूत-व्यवहार नय से मूर्त है, वैसे परमभाव से मूर्त न हो, यह स्यात् शब्द का प्रयोजन है। कथंचित् अमूर्त है, ऐसा परमभाव से कहना चाहिये। कथंचित् मूर्त होने से इसके दोष नहीं है, इसका फल कर्मबंध है। किन्तु अमूर्त मानने का फल स्वभाव का अपरित्याग है।

कथंचित् एकप्रदेशी है। किसी अभिप्राय से अर्थात् भेदकल्पना-निरपेक्ष अभिप्राय से एकप्रदेशी है। यहाँ स्यात् शब्द से क्या प्रयोजन है? जैसे भेदकल्पना-निरपेक्षता से एक प्रदेशपना है उसी प्रकार व्यवहार से एक प्रदेशपना न हो, यह स्यात् शब्द का प्रयोजन है। कथंचित् अनेकप्रदेशी है, ऐसा

व्यवहारनय से ही मानना चाहिये। कथंचित् एकप्रदेशपना होने से दोष नहीं है। और इसका फल निश्चय से एकपने का समर्थन है। किन्तु अनेकप्रदेशत्व का फल अनेककार्यकारित्व है।

कथंचित् शुद्ध है। किसी अभिप्राय से अर्थात् केवलस्वभाव की प्रधानता से शुद्धस्वभाव है। स्यात् शब्द से यहाँ क्या प्रयोजन है? जैसे केवलस्वभावपने से शुद्धता है वैसे मिश्रस्वभावपने से शुद्धता न हो इसलिये स्यात् शब्द है। कथंचित् अशुद्ध है, ऐसा प्रयोग मिश्रस्वभाव से ही करना चाहिये। कथंचित्. शुद्धपना होने से इसके निर्दोषता है और इसका फल स्वभाव की प्राप्ति है, किन्तु अशुद्ध स्वभाव का फल स्वभाव की प्राप्ति नहीं है।

कथंचित् उपचरित है। किसी अभिप्राय से अर्थात् स्वभाव के भी अन्यत्र उपचार से उपचरितस्वभाव है। यहाँ पर स्यात् शब्द से क्या प्रयोजन है? जैसे उपचरित नय से अन्यत्रस्वभाव का उपचार होने से उपचरितपना है, वैसे अनुपचरितस्वभाव से उपचारपना न हो, यह स्यात् शब्द का प्रयोजन है। कथंचित् अनूपचरित है, यह निश्चय से समझना चाहिये। कथंचित् उपचरितपन होने से दोष नहीं है. और उसका फल परज्ञता और सर्वज्ञता है। अनुपचरित का फल उससे विपरीत आत्मज्ञता है।

स्याद्वादो हि समस्तवस्तुतत्त्वसाधकमेवमेकस्खलितं शासनमर्हत्सर्वज्ञस्य। स तु सर्वमनेकांतात्मकमित्यनुशास्ति, सर्वस्यापि वस्तुनोऽनेकांतस्वभावत्वात्।

यदेव तत् तदेवातत् यदेवैकं तदेवानेकं, यदेव सत्तदेवासत्, यदेव नित्यं तदेवानित्यमित्येकवस्तुवस्तुत्व-निष्पादकंपरस्परविरुद्ध शक्तिद्वय-प्रकाशनमनेकांतः।

[समयसार आत्मख्याति, स्याद्वादाधिकार]

अर्थ—स्याद्वाद है वह सब वस्तुस्वरूप के साधने वाला एक निर्बाध अर्हत्सर्वज्ञ का शासन है। वह स्याद्वाद सब वस्तुओं को 'अनेकांतात्मक' ऐसा कहता है—क्योंकि सभी पदार्थों का अनेक धर्मरूप स्वभाव है। अनेकान्त का ऐसा स्वरूप है कि जो वस्तु तत् रूप है वही अतत् स्वरूप है, जो सत्स्वरूप है

वही वस्तु असत्स्वरूप है, जो वस्तु नित्यरूप है वही वस्तु अनित्यरूप है। इस तरह एक वस्तु में वस्तुपने की उपजाने वाली परस्पर विरुद्ध दो शक्तियों का प्रकाश होता है।

इससे उस मत का खण्डन हो जाता है जो अनेकान्त व स्याद्वाद का स्वरूप ऐसा मानते हैं कि वस्तु नित्य है, अनित्य नहीं है; एक है, अनेक नहीं है; अभेद है, भेद नहीं है इत्यादि, क्योंकि इससे तो सर्वथा एक धर्म की सिद्धि होती है।

परसमयाणं वयणं मिच्छं खलु होदि सव्वहा वयणा।
जइणाणं पुण वयणं सम्म खु कहंचि वयणादो॥

अर्थ—परसमयों (अजैनों) का वचन 'सर्वथा' कहा जाने से वास्तव में मिथ्या है और जैनों का वचन 'कथंचित्' कहा जाने से वास्तव में सम्यक् है।



परिशिष्ट—२

अर्थक्रियाकारित्व

'अनुवृत्तव्यावृत्तप्रत्ययगोचरत्वात्पूर्वोत्तराकारपरिहारा वाप्तिस्थिति-लक्षणपरिणामेनार्थक्रियोपपत्तेश्च ।'[1]

वस्तु अनुवृत्त (सामान्य अथवा गुण) और व्यावृत्त (पर्याय) रूप से दिखाई देती है तथा पूर्व पर्याय का परिहार (नाश) और स्थिति (ध्रौव्य) रूप परिणमन से अर्थक्रिया की उत्पत्ति होती है ।

अर्थक्रियाविरोधादिति=कार्यकर्तृत्वायोगात्[2]

सामान्य-विशेषात्मक वस्तु में उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य रूप अर्थक्रिया होती है ।

'त्रिलक्षणाभावतः अवस्तुनि परिच्छेदलक्षणार्थ क्रियाभावात् ।'[3]

उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप लक्षणत्रय का अभाव होने के कारण अवस्तु स्वरूप जो ज्ञान उसमें परिच्छित्ति रूप अर्थक्रिया का अभाव है । जैसे-जैसे ज्ञेयों में उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य रूप परिणमन होता है उस ही के अनुसार ज्ञान में भी जानने की अपेक्षा उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य होता रहता है । जो पर्याय प्रति-क्षण उत्पन्न होती है उस पर्याय को ज्ञान सद्भाव रूप से जानता है । जो उत्पन्न होकर विनष्ट हो चुकी हैं या अनुत्पन्न हैं उनको अभाव रूप से जानता है, अन्यथा ज्ञेयों के अनुकूल ज्ञान में परिणमन नहीं बन सकता ।[4]

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा में भी कहा है—

जं वत्थु अणेयंतं तं चिय कज्जं करेदि णियमेण ।
बहुधम्मजुदं अत्थं कज्जकरं दीसदे लोए ॥ २२५ ॥
एयंतं पुणु दव्वं कज्जं ण करेदि लेसमेत्तं पि ।
जं पुणु ण करदि कज्जं तं वुच्चदि केरिसं दव्वं ॥२२६॥

---

१. श्लोकवार्तिक भाग ६ पृ० ३५६ । २. प्रमेयरत्नमाला पृ० २६४ ।
३. धवल पु० ६ पृ० १४२ । ४. धवल पु० १ पृ० १६८ ।

टीका—कार्यं न करोति, तुच्छमपि प्रयोजनं न विदधाति।

अर्थ—जो वस्तु अनेकान्त रूप है वही नियम से कार्यकारी है, क्योंकि लोक में बहुत धर्मयुक्त पदार्थ ही कार्यकारी देखा जाता है। एकान्त रूप द्रव्य लेशमात्र भी कार्य नहीं करता। और जो कार्य नहीं करता उसको द्रव्य कैसे कहा जाय ?

कार्य नहीं करता अर्थात् किंचित् भी प्रयोजनवान् नहीं है।

'अर्थस्य कार्यस्य क्रिया करणं निष्पत्तिर्न युज्येत।'

[लघीयस्त्रय पृ० २२]

प्रयोजन निष्पत्ति को अर्थ-क्रिया कहते है। जैसे, ज्ञान का प्रयोजन जानना है, अतः ज्ञान का परिच्छित्ति रूप जो परिणमन है वही ज्ञान की अर्थक्रिया है। अपने स्वरूप को न छोड़कर परिणमन करना द्रव्य का प्रयोजन है, क्योंकि उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य से ही द्रव्य की सत्ता है। अतः द्रव्य में जो परिणमन रूप क्रिया होती है वह द्रव्य की अर्थ-क्रिया है।

श्री पं० पन्नालाल जी साहित्याचार्य, सागर लिखते हैं—'अर्थक्रियाकारित्व का अर्थ है—जिस पदार्थ को जिस रूप से जाना है, उस रूप से उसका कार्य भी होना। जैसे जल को जल रूप जाना, यहां जल में स्नान, अवगाहन आदि क्रिया होती है वह जल का अर्थ-क्रिया-कारित्व है। अर्थ-क्रिया-कारित्व से अपने द्वारा ज्ञात पदार्थ का यथार्थ निर्णय हो जाता है और जहां अर्थ-क्रिया-कारित्व नहीं होता, वहां वस्तु की यथार्थता का निर्णय नहीं होता।'

श्री पं० जीवंधर जी, इन्दौर लिखते है—'प्रत्येक सद्भूत पदार्थ जो भी कार्य करता है या परिणति करता है वही उसकी अर्थक्रिया है।'



परिशिष्ट—३

अनेक-क्रिया-कारित्व

अनेक-क्रिया-कारित्व :—एक पदार्थ सहकारी कारणों के वैविध्य से अनेक कार्यों का संपादन करता है, अतः वह अनेक-क्रिया-कारित्व कहा जाता है। जैसे—एक ही दीपक एक ही समय में अन्धकार का नाश करता है, प्रकाश फैलाता है, वत्ती का मुख जलाता है, तैल का शोषण करता है, धूम्र रूपी कालिमा को उत्पन्न करता है। इन अनेक कार्यों का निर्मापक होने से वह अनेक-क्रिया-कारित्व माना जाता है। [श्री पं० जीवंधर जी, इन्दौर]



परिशिष्ट-४

संकर आदि आठ दोष

सूत्र १२७ व उसके टिप्पण में संकर आदि आठ दोषों का वर्णन है। उन आठ दोषों का विशेष कथन 'प्रमेयरत्नमाला' के अनुसार निम्न प्रकार है—

'भेदाभेदयोर्विधिनिषेधयोरेकत्राभिन्ने वस्तुन्यसम्भवः शीतोष्णस्पर्शयोर्वेति १। भेदस्यान्यदधिकरणमभेदस्य चान्यदिति वैयधिकरण्यम् २। यमात्मानं पुरोधाय भेदो यं च समाश्रित्याभेदः, तावात्मनौ भिन्नौ चाभिन्नौ च। तत्रापि तथापरिकल्पनादनवस्था ३। येन रूपेण भेदस्तेन भेदश्चाभेदश्चेति सङ्करः ४। येन भेदस्तेनाभेदो येनाभेदस्तेन भेद इति व्यतिकरः ५। भेदाभेदात्मकत्वे च वस्तुनोऽसाधारणाकारेण निश्चेतुमशक्तेः संशयः ६। ततश्चाप्रतिपत्तिः ७। ततोऽभावः ८।'

अर्थ—भेद और अभेद ये दोनों विधि और निषेध स्वरूप हैं, इसलिये उनका एक अभिन्न वस्तु में रहना असम्भव है, जैसे कि शीत और उष्ण स्पर्श का एक साथ वस्तु में रहना असम्भव है। इस प्रकार जीवादि पदार्थों को सामान्य-विशेषात्मक मानने पर विरोध दोष आता है ॥१॥ भेद का आधार अन्य है और अभेद का आधार अन्य है, इसलिये इन दोनों का एक आधार मानने से वैयधिकरण्य दोष भी आता है ॥२॥ जिस स्वरूप को मुख्य करके भेद कहा जाता है और जिस स्वरूप का आश्रय लेकर, अभेद कहा जाता है, वे दोनों स्वरूप भिन्न भी हैं और अभिन्न भी हैं। पुनः उनमें भी भेद, अभेद की कल्पना से अनवस्था दोष प्राप्त होता है ॥३॥ जिस रूप से भेद है, उस रूप से भेद भी है, अभेद भी है; अतः संकर दोष प्राप्त होता है ॥४॥ जिस अपेक्षा से भेद है, उसी अपेक्षा से अभेद है और जिस अपेक्षा से अभेद है उसी अपेक्षा से भेद है, इस प्रकार व्यतिकर दोष आता है ॥५॥ वस्तु को भेदा-

भेदात्मक मानने पर उसका असाधारण आकार से निश्चय नहीं किया जा सकता, अतः संशय दोष आता है ॥६॥ संशय होने से उसका ठीक ज्ञान नहीं हो पाता, अतः अप्रतिपत्ति नामक दोष आता है ॥७॥ ठीक प्रतिपत्ति के न होने से अभाव नाम का दोष भी आता है ॥८॥

निरपेक्ष, एकान्त दृष्टि में ये आठों दोष सम्भव हैं। सापेक्ष, अनेकान्त दृष्टि में इन आठ दोषों में से एक दोष भी सम्भव नहीं है।

जो गुण और गुणी (द्रव्य) में सर्वथा भेद मानते हैं, उनके मत में उपर्युक्त आठों दोष सम्भव हैं, जो गुण और गुणी का सर्वथा अभेद मानते हैं, उनके मत में उपर्युक्त आठों दोष सम्भव हैं तथा जो भेद और अभेद को परस्पर सापेक्ष नहीं मानते हैं उनके मत में भी उपर्युक्त आठों दोष सम्भव हैं। किन्तु, भेद और अभेद को सापेक्ष मानने वाले स्याद्वादियों के मत में उक्त आठ दोष सम्भव नहीं हैं क्योंकि, वस्तुस्वरूप अनेकान्तात्मक है।



पारिभाषिक व विशेष शब्द सूची

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३	४	नास्ति ।	नास्ति । धर्माधर्माकाशकाल-द्रव्येषु चेतनत्वं मूर्तत्वं च नास्ति ।
५	५	सख्यातभाग	संख्यातभाग
६	३	ध्वंसीपर्याय	ध्वंसी पर्याय
६	१५	वभाव	विभाव
६	१८	···रसैक्रैका···	···रसैकैका···
८	३	पृथक्क	पृथक्
८	१८	पर्यायेः	पर्यायैः
८	२६	गंधवरा	गंधवर्णा
९	९	स्वभावः	स्वभावाः
१०	१२	स्थितः	स्थिताः
१४	७	ज्ञानोत्पात्त	ज्ञानोत्पत्ति
१५	६	स्तदायुः प्रमाण	स्तदायुःप्रमाण
१५	१२	मेकैके नयाः	मेकैका नयाः
१५	१७	एवं भूत	एवंभूत
१८	२०	स्पर्शवत्वं	स्पर्शवत्त्वं
१६	१६	नेक स्वभावः	नेकस्वभावः
२०	३	चतुर्भिप्राणैः	चतुर्भिः प्राणैः
२०	४	अजीवतिति	अजीवदिति
२०	६	च्छिति मात्र	च्छितिमात्र
२५	५	प्रसङ्गः	प्रसङ्गः स्यात्
२८	४	तद्द्वेधा	तद्द्वेधा
२८	६	वस्तुसंगृही	वस्तु संगृही
२८	२२	गाहा	

३१	६	रूढ्या —प्रसिद्धः	रूढ्याप्रसिद्धः
३१	१०	इत्येवं भूतः	इत्येवंभूतः
३७	२	मङ्गलाथिभिः	मङ्गलार्थिभिः
४१	२३	ववहारे	ववहारं
४२	१६	॥६॥	॥६॥
४३	२२	पदेसत्तं	देसत्त
४५	२५	चरिन	चरिम
४६	२३	भणिय	भणिया
५२	११	व्यजन	व्यंजन
५५	१४	सूक्ष्मा वाग…वृर्तमान…प्रमाणाद	सूक्ष्मावग…वर्तमाना…प्रमाण्याद
५६	२१	लाक्खविणासस्स णाइंपत्तादो	ल्क्खविणासस्स णाइंयत्तादो।
५६	२२	अगुरुलहुत्तं	अगुरुलहुअत्तं
५६	२३	उवलभांदो	उवलंभा
५७	१५	१ ०००	१२०००
५८	४	होती	होती है।
५८	१०	)—(	)=(
५८	२६	पृ० १ ६ से	पृ० १६६ से
५९	७	वृद्धि विशृद्ध	वृद्धिविशुद्धि
६०	२६	सम्वन्धात	सम्वन्धात्
६२	७	मूस	मूपा
६२	२३	किचूण चरिम	किचूणचरिम
६२	२४	मूपगर्भा	मूपागर्भा
६३	१२	व्यजन…स्कध	व्यंजन…स्कंध
६३	१५	सुहुमा	सुहुमो
६४	६	गाथा ६	गाथा १६
६५	११	परमाण	परमाणु
६६	२	परमाण	परमाणु
६८	२५	वदो	व.दो

७२	२३	५/ ८	५/ ३८
७६	२५	तरत्तस्या	तरत्तस्मा
८०	२०	कायाधर्म्मा	काया धर्म्मा
८०	२६	परमाणं	परमाणु
१०८	२३	गुणगुणियईण	गुणगुणियाईण
१०९	३	द्रव्याथिको	द्रव्यार्थिको
१०९	८	रूवेण	रूवेण
१११	२५	गिहणइ	गिह् णइ
११२	२४	गिहणइ	गिह् णइ
११५	१०	गिहंणए	गिह्णए
११६	८	अशुद्धग्रो	असुद्धग्रो
१२२		हैडिंग [सूत्र ९८	[सूत्र ६८
१२५	१०	जलाकार	जालकार
१२८	१४	जोवपुद्गला	जीवपुद्गला
१२९	२३	भणिग्रो पुस्सा	भणिग्रो णेग्रो पुस्सा
१४४		हैडिंग [सूत्र ९९	[सूत्र ९९ गाथा ५
१५७	१४	दा	दो
१७२	१८	शरीर है।	शरीर जीव है।
१७९	२	वयोऽपि	नयोऽपि
१८४	१६	बध	बंध
१८४	२१	पचास्तिकाय	पंचास्तिकाय
१८६	१६	अनादि, नित्य	अनादि-नित्य
१९१	२०	लाप	लोप
१९२	६	धमस्या	धर्मस्या

नोट (१)—पृ० १७२ सूत्र १६० की टीका में यह जोड़ना चाहिये—

'अनन्तानन्त विस्रसोपचय सहित कर्मपुद्गलस्कंध कथंचित् जीव है, क्योंकि वह जीव से पृथक् नहीं पाया जाता है [धवल पु० १२ पृ० २९६]।' 'आधेय में आधार का उपचार करने से परमाणु की जीवप्रदेश संज्ञा है।

अथवा, जीव और पुद्गलों के परस्पर में अनुगत होने पर परमाणु की भी जीवप्रदेश संज्ञा होने में कोई विरोध नहीं है [धवल पु० १४ पृ० ४३९] ।'

नोट (२)—पृ० १७३ पर सूत्र १६२ की टीका में यह जोड़ना चाहिये—

'शरीराकार से स्थित कर्म व नोकर्म स्वरूप स्कंधों को नोजीव कहा जाता है, क्योंकि वे चैतन्य भाव से रहित हैं। उनमें स्थित जीव भी नोजीव हैं, क्योंकि उनका उससे भेद नहीं है [धवल पु० १२ पृ० २९७] ।'